डा० दरवेश सिंह



विजन वन की सूर्यमुखी



○ 'विजन वन की सूर्यमुखी' डा० दरवेश सिंह के निबंधों का दूसरा संकलन है। उनका पहला निबंध-संकलन 'भाव-चिन्तन' उत्तर प्रदेश हिन्दी-संस्थान द्वारा पुरस्कृत होकर यह सिद्ध करता है कि 'जादू सर पर चढ़कर बोलता है'।

○ शैली और भाषा-अभिव्यंजना की दृष्टि से इस सकलन के निबंध पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० अम्बिकादत्त व्यास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निकट जान पड़ते हैं। समाज-विज्ञान और व्यक्ति-विज्ञान की आधुनिकतम उपलब्धियों से जुड़े निबंध आचार्य शुक्ल की परम्परा को पुनःजीवित करते हैं।

○ डा० दरवेश सिंह के निबंधों के सम्बन्ध में श्री कुबेर नाथ राय के इस कथन पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए कि यदि "शुक्ल जी हिन्दी में नहीं आये होते और यदि वाराणसी हिन्दी का मुख्य केन्द्र न बन गया होता, हिन्दी अपने सहज, स्वाभाविक, अखिल उत्तर भारतीय व्यापक रूप में विकसित हुई होती तो आप (डा० दरवेश सिंह) जिस गद्य को लिखते हैं, वही गद्य मानक गद्य बनता। आज भी इसी गद्य का महत्त्व है।"

[कृपया प्राप्ति-सूचना एवं सम्मति देकर कृतार्थ करें।]

आदरणीय
डॉ. रामस्वरूप जी आर्य
को
सम्मान पूर्वक
[illegible]

विजन वन की सूर्यमुखी

(मनोवैज्ञानिक एवं भावात्मक निबंध)



कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर

विजन वन की सूर्यमुखी

(मनोवैज्ञानिक एवं भावात्मक निबंध)

डा० दरवेश सिंह







नवेन्दु सदन, आदर्श कालोनी
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)—२५१००१

प्रकाशक :



नवेन्दु सदन, आदर्श कालोनी
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)—२५१००१

संस्करण : प्रथम, १९९७ ई० | मूल्य : रु० १००/-

मुद्रक :
देव प्रिण्टर्स,
५९, पटेलनगर, नई मण्डी,
मुजफ्फरनगर दूरभाष : ४०४५५७

समर्पण

भारतीय संस्कृति के व्याख्याता
हिन्दी-साहित्य के सुप्रसिद्ध समालोचक
भावात्मक एवं ललित-निबंधकार
परम श्रद्धेय
डा० विद्यानिवास जी मिश्र
को
सम्मान एवं आदर के साथ

—दरवेश

अनुक्रमणिका

भूमिका

'भाव-चिन्तन' नामक अपने पहले निबंधसंग्रह के प्रकाशन के पश्चात् डा० दरवेश सिंह ने भारी ख्याति अर्जित की। वे अचानक हिन्दी के श्रेष्ठ निबंधकारों की श्रेणी में आ गये। यह उनके भीतर निहित रचनात्मक शक्ति का परिचायक तथ्य है। इस शक्ति पर प्रामाणिकता की मुहर लगाता, लेखक का दूसरा निबंध-संकलन "विजन वन की सूर्यमुखी" (१९९७) भी लगे हाथ आ गया तथा कुछ और शिल्पगत परिष्कार-संस्कार सहित विकास की स्पष्ट छाप लिये प्रस्तुत हुआ। इक्कीस निबंधों के इस संकलन को लेखक ने मनोवैज्ञानिक एवं भावात्मक निबंधों का संकलन घोषित किया है। प्रधानता विचार और चिन्तन की है। कसावट से भरपूर विषयप्रधान इन निबंधों के संकलन का आरंभ 'करुणा' से और अन्त 'क्रोध' शीर्षक रचना से होता है। इन्हें देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्मरण स्वाभाविक है। ऐसा लगता है कि इन रचनाओं के व्याज से लेखक हिन्दी निबंध के पुरोधा का आदि अन्त में अभिवादन कर रहा है।

उक्त दो निबंधों को पढ़ने पर दरवेश सिंह के साहस के संदर्भ में एक सुखद अनुभव यह होता है कि किस प्रकार सीधे आचार्य शुक्ल के विषयों को उठाकर भी उनसे पृथकता का सार्थक ढँग से निर्वाह हो गया है। लेखक की यह सफलता मूलतः रचनाओं में निहित चिन्तन और लालित्य से होती है। इतने पर भी इस संकलन के निबंध ललित-निबंध नहीं हैं। इसका आमुख अवश्य ही एक रम्य रचना हो गयी है। हृदय के रहस्यमय कान्तार (विजन वन) में समाये अछोर अनन्त तमसावृत्त संसार को देखते हुए भीतर उसी जिज्ञासा की सूर्यमुखी को देखनेवाला एक पूरा कवित्वमय संदर्भ 'आमुख' के आरंभ में उभरा है और इसी रम्यशिल्पलय में, वह अन्त तक वहाँ चला गया है, जहाँ लेखक एक महत्त्वपूर्ण बात अपनी प्रक्रिया को लक्ष्य कर लिखता है।

"मेरी आकांक्षा थी कि गद्य साहित्य की निबंध विधा, जो गंभीर, ज्ञान-गूढ़, कठिन-क्लिष्ट कही जाती रही है, अन्य विधाओं की तुलना में, वह इतनी रमणीय, पठनीय और सरस बन जाए कि जोभी उसे पढ़ें, उन्हें यह अपने साथ रमा ले जाए– बहा ले जाए। ललित निबंध तो ऐसे होते हैं,– हो सकते हैं, लेकिन मनोभावपरक विचारात्मक निबंध बड़े उबाऊ होते हैं। अतः इनको कुछ इस प्रकार ढाला जाए कि इनके अन्तः बाह्य कलेवर में काव्य रहित काव्य धर्मिता, कहानी रहित कथापरक रमणीयता, नाटक रहित नाटकीयता, रेखाचित्र रहित चित्रात्मकता, दर्शन रहित दार्शनिकता, मनोविज्ञान रहित मन का विश्लेषण आदि तत्त्वों को लिये हुए शब्द कुछ इस प्रकार अठखेलियाँ करते चलें कि.........."

इस आमुख से स्पष्ट है कि लेखक अपनी रचनाओं को ललित निबंध नहीं मान रहा है। किन्तु अपने मनोभावपरक–विचारात्मक निबंधों को सुरम्य भावात्मक निबंध के लालित्य में ढालने के लिए उसने वस्तु शिल्प संबंधी जिन-जिन सूक्ष्म तकनीकी विशेषताओं को आवश्यक माना है, वही-वही विशेषताएँ तो ललित निबंधों की भी होती हैं और तब ललित निबंध में और भावात्मक निबंध में क्या अन्तर रह गया ? लेखक लिखता है ललित निबंध ऐसे ही होते हैं, हो सकते हैं और इसके बाद लेखक को इस आवश्यकता का अनुभव नहीं होता है कि दोनों के अन्तर को स्पष्ट करे। ऐसा लगता है कि वह इस अन्तर के

संबंध में निर्भ्रान्त है और पाठकों को भी ऐसा ही समझता है। इसीलिए इस विषय को आगे नहीं बढ़ने देता। लेकिन स्थिति आज की कुछ और है।

समकालीन हिन्दी निबंध-क्षेत्र में ललित निबंध और भावात्मक निबंध के संदर्भ में बहुत भ्रमात्मक स्थिति उत्पन्न हो गयी है। भावात्मक, अनुरंजक अथवा रम्य ढाँचेवाली निबंधरचना को ललित निबंध के रूप में रेखांकित कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि सरदार पूर्ण सिंह और प्रताप नारायण मिश्र आदि से लेकर भारतेन्दु तक को लोग ललित निबंधकारों में खतिया देते हैं। ऐसा करते हुए लोग भूल जाते हैं कि ललित निबंध में 'ललित' शब्द कविता क्षेत्र के 'नयी' और कथाक्षेत्र के 'आंचलिक' शब्द की भाँति विशेषण नहीं, संज्ञा का अंग है और एक विशेष कालावधि की नवीन तथा विशेष शिल्प पहचान को द्योतित करता है। डा० दरवेश निबंध क्षेत्र की उक्त भ्रांति से मुक्त हैं। उनके भीतर ललित निबंध और भावात्मक निबंध की सीमारेखा की निर्भ्रान्त धारणा है।

भावात्मक निबंध की जिस पहचान, बनावट और विशेषताओं का संक्षिप्त किन्तु सटीक वर्णन 'आमुख' में हुआ है, वह कुल मिलाकर, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, ललित निबंध की सामग्री है, मगर अधूरी है। इसमें क्रम, अन्विति, संगति और संगठन के शिल्पगत आयाम से निरपेक्ष स्वच्छन्दता और निर्बंध उड़ान की शिल्पभंगिमा के साथ व्यक्तित्व की छाप, वैसी छाप, जैसी आचार्य द्विवेदी के 'कुटज' और 'देवदरु' में तथा विद्यानिवास मिश्र की 'शेफाली झरती है' में उभरी है, जुड़ेगी, तब जाकर वह ललित निबंध के रूप में प्रस्तुत होगी। 'विजन वन की सूर्यमुखी' के निबंध निर्बन्ध नहीं हैं, वे विषय से बँधे हैं। वे स्वच्छन्द मनतरंग जैसे नहीं हैं, क्रमबद्ध और तथ्यपरख भावात्मक विश्लेषण-वृत्ति से अनुशासित हैं तथा निर्वैयक्तिक चिन्तन-युक्त हैं। इसीलिए अपनी अगंभीर, अनुरंजक, रम्य तथा ललित बनावट की अतिरिक्त विशेषताओं को लिए हुए वे भावात्मक निबंध की कोटि में आते हैं।

डा० दरवेश सिंह ने 'आमुख' के विश्लेषण और रचनाओं के द्वारा भावात्मक निबंध धारा को पुनर्प्रतिष्ठित किया है। उनकी रचनाओं में भावचिन्तन का विषयगत सुदृढ़ अनुशासन है। मानवीय एवं समाज के यथार्थ का अनुशीलन है और वे कसे हुए, क्रमिक, गंभीर, व्यापक और सतर्क विश्लेषण से समृद्ध हैं। उनके वैचारिक प्रवाह में जबरदस्त खिंचाव है और वे पाठकों को अन्त तक रमाये रहते हैं। लक्षित विषय पर विस्तृत घेरा डालकर, उसे बाँधने की कला के साथ पाठकीय चित्त को बाँधने की यह भावात्मक निबंध की कला डा० दरवेश सिंह में अपनी निजी है। उनमें सरदार पूर्ण सिंह और आचार्य शुक्ल की परम्परा का प्रतिष्ठा योग है।

'विजन वन की सूर्यमुखी' में पाठक अथवा समीक्षक 'परोपकार', 'प्रसन्नता', 'एकता', 'पशुता और मानवता' तथा 'शान्ति' आदि शीर्षकों वाले निबंधों को देखकर सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि लेखक की समूची चिन्तनधारा के केन्द्र में जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा है। उसकी विश्लेषण पद्धति सकारात्मक है। वह निराकुल मानसिकता में सहज, सरल और सामान्य जैसा लगने वाला 'विनम्रता पवित्रता और गरीबी', 'गंभीरता', 'शक-सन्देह', 'पशुता और मानवता', 'कृतज्ञता', 'नाम और काम', 'अहंकार/अभिमान' और 'एकता' जैसे विषयों के इर्द-गिर्द शाश्वत, सनातन, सांस्कृतिक, सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों के तानेबाने से आकर्षक सर्जनात्मक बुनावट डालता है।

स्पष्ट है कि लेखक में समकालीन अक्षर जगत् की वह सुपरिचित जटिल मुद्रा नहीं

है, जिसे आधुनिकता कहते हैं और जिसमें संघर्ष, विरोध, टकराहट, विद्रोह, उलझन, विसंगति और परम्पराभंजन आदि के द्वारा विध्वंशदर्शी, नकारात्मक चिन्तन के सहारे, आधुनिक समाज और जीवन की व्याख्या में उतरते हैं। यह भी अच्छा है कि दरवेश सिंह कुछ इधर का और कुछ उधर का समन्वित कर मध्यममार्गी बनने का प्रयास नहीं करते हैं। उनकी अपनी एक सुनिश्चित दिशा है और पूर्ण आश्वस्ति के साथ उस दिशा में वे अपनी निबंध साधना को लेकर चल रहे हैं। यही कारण है कि वे उस स्थान पर सुदृढ़ता से खड़े दीख पड़ते हैं, जहाँ से कुछ दे सकने की स्थिति बनती है।

तो अपने निबंध-साहित्य के द्वारा 'विजन वन की सूर्यमुखी' का रचयिता क्या दे रहा है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व एक तथ्य की जानकारी आवश्यक है। लेखक कहीं भी शिक्षक बनकर शिक्षा देता या सीधे मार्ग निर्देशन करता नहीं दीखता है। आचार विचार से जुड़े विषय और उदात्त अनुदात्त मनोवृत्तियों को उठाकर वह तटस्थभाव से विश्लेषित करता चलता है, कभी मनोविज्ञान का सहारा लेकर तो कभी समाजशास्त्र आदि के माध्यम से; और उसके विश्लेषण के भीतर से स्वयमेव मानव की मानवता को परिपुष्ट करनेवाली स्पर्शशील और प्रेरक तरंगें निकलती चलती हैं। यह प्रच्छन्न कलात्मक सोद्देश्यता, लोकहित चिन्ता, तथा मनुष्य की मनुष्यता के सौन्दर्यबोध की प्रतिष्ठा डा० दरवेश सिंह की ध्यानाकर्षक देन है। एक उदाहरण द्वारा इस तथ्य को सरलता से आत्मसात् किया जा सकता है। "पशुता और मानवता" शीर्षक निबंध में लेखक लिखता है,—"पशु सिर्फ देता है, लेता नहीं। लेने की उसमें कामना भी नहीं और मनुष्य सदा लेने की कामना से भरा रहता है। देने के नाम पर तो वह केवल दुख देता है।..........आदमी पशुओं को पालने का दम्भ पाल बैठा है, पालता कहाँ है उन्हें ? केवल अपनी स्वार्थ सिद्धि का साधन मानकर रखता है। पालता तो पशु है मनुष्य को..........। आदमी की वासना की आग कोई सामान्य नहीं, वड़वाग्नि है, जो सागरों को जलाकर भी बुझती नहीं, और पशुओं में यह आग जठराग्नि है, जो स्वास्थ्य हेतु खाये जानेवाले भोजन को पचाने के लिए नियत समय पर पैदा होती है। काश ! आदमी पशु से कुछ सीख पाता !"

इस प्रकार देखते हैं कि एक चिन्तक और विचक्षण शैलीकार स्तरीय, चुस्त निबंध-भाषा में अनुरंजक मुद्रा डालकर जब अपनी रचना-यात्रा पर निकलता है तो उसके सामने कुछ ऊँचे, उदात्त और शाश्वत प्रतिमान होते हैं। सामाजिक स्थितियों में जहाँ ऐसे प्रतिमानों अथवा जीवनादर्शों का भीषण अकालसा पड़ा हुआ है, वहाँ भरपूर छटपटाहट के साथ, लेखक आगे बढ़ रहा है। उसकी कलम से अकाल की जलधारा जैसी फूटती है और यह किसी हल्की तथा कमजोर कलम की धार नहीं, अन्तस् के विचार सागर की उच्छल तरंगें होती हैं, प्रबल प्रभावों वाली, सविस्तार, सतर्क और गंभीर मनोहरता के आकर्षणों से भरपूर ! निश्चित रूप से डा० दरवेश सिंह की यह वैचारिक सूर्यमुखी 'विजन वन' से उद्भूत होकर सुजन-जन-समाज की धरोहर और हिन्दी निबंध साहित्य का शृंगार बनेगी।

बड़ी बाग, गाजीपुर
२३३००१ (उ०प्र०)

—विवेकी राय
२९-१-९७

आमुख

कोलाहल भरा निर्जन है यह हृदय का रहस्यमय कान्तार (विजन-वन)। कितने संसार, कितने जगत् समाये हैं, इसमें कि ओर-छोर नहीं है। कभी-कभी तो लगता है कि, " हम नहीं दुनिया में लेकिन एक दुनिया हम में है।'' यही सच है और फिर उस दुनिया के झकझोरों से उठे भावों, विचारों और खयालों का अम्बार ! शायद आदमी, आदमी नहीं और संभवत: हृदय, हृदय नहीं, वह भभकता भाव, विचरता विचार और तैरता खयाल है। हर भाषा, हर वाङ्मय और संसार इन तीनों से अलग नहीं। जब हम इन भावों, विचारों और खयालों के साथ भभकने, विचरने और तैरने लगते हैं तो 'विजन' होते हुए भी एक भीड़ भरा भयानक शोर गुल घेर लेता है और जब इन्हें देखने, जानने की भीतर एक वृत्ति (जिज्ञासा) जगती है तो कहीं दूर एक आलोक-मंडल (सूर्य) दिखायी देता है फिर तमसावृत होते हुए भी वह वृत्ति उस आभामंडल की ओर उन्मुख हो जाती है। यही वृत्ति है विजन-वन में विकच सूर्य मुखी !

अत: 'विजन-वन' कोई लौकिक जंगल नहीं, खेत नहीं,—सूना किन्तु कोलाहल पूर्ण हृदय और बुद्धि है और सूर्यमुखी कोई बाहर का फूल नहीं,—एक वृत्ति है (ज्ञानोन्मुखी वृत्ति जिज्ञासा); कोई विचार नहीं, एक दृष्टि है; दर्शन नहीं, एक जीवन है (लक्ष्योन्मुखी जीवन) लक्ष्य है ज्ञान के सूरज की उपासना, लेकिन सूरजमुखी के बीच का काला रँग मेरे दोषों, दुर्गुणों और अज्ञान का प्रतीक है, जो ज्ञान के सूरज को उतरने नहीं देता।

यह सूर्यमुखी !—सूर्य का सा मुख, सूर्य की ओर मुख, लेकिन सूर्य से लाखों कोस दूर, न उसका तेज, न उसकी दहक और न उसका कोई लक्षण; केवल उसका आकार लिये,—उसकी उपासना में, उसी की ओर मुख किये, एक पाँव पर खड़ी रहने के लिए उपजी, पनपी, चटकी, खिली, खुली, पकी, मुरझाई, सूखी, काटी गयी और फिर पेर दिया गया कोल्हू में। संसार ने असली को नकली बनाकर इस्तेमाल किया। शायद यह इसके काले धब्बे का फल है। जिस सूर्य से संबद्ध किया गया, उसे यह पा न सकी। सूरज का पीत रँग तो इसकी परिधि को रँग गया, लेकिन हृदय मध्य का काला धब्बा न मिटा; कुछ आकर्षण तो पाया, लेकिन सुरभि न फैली; स्नेह तो इससे निचोड़ा गया, लेकिन श्रेय कहाँ ?

हाय रे ! प्यासी सूर्यमुखी,
कहूँ क्यों तुझको दीन दुखी।
तुम्हारे तप की सारी निधि—
बिकी, बाजारों बीच बिकी।।

गोल सूरज मुखी है, गोल सूरज, गोल चन्द्रमा, गोल धरती और गोल ही है ज्ञान! इन सबकी **'करुणा'** के लिए यह युग-युग से तरसती रही। कभी-कभार बरस गयी कोई बदली तो **'कृतज्ञता'** से भर गया इसका आँचल। जिसने इसे चाहा-सराहा, उसकी भी कृतज्ञ और जिसने इसे नकारा-दुत्कारा, उसकी भी कृतज्ञ ! फलत: **'विनम्रता'** इसके भीतर और बाहर समा गयी। विनम्रता, **'पवित्रता'** का पहला लक्षण है और पवित्र वही जो **'आत्मा से गरीब'** है। अर्थात् जिसकी आत्मा पर से लोभ, काम और मोह की पपड़िया उतर पड़ी और भौतिक संपदा की चाह मिट गयी। जब 'चाह गयी, चिन्ता मिटी और मनुआ बेपरवाह हो गया' तो फिर मनहूस कहलाने वाली **'गंभीरता'** का क्या काम ? अपने आराध्य में तन्मय, तल्लीन

और एकाग्र होकर मीरा और चैतन्य की तरह उल्लास-लोल नर्तन। फिर कितने ही **'शक-संदेहों'** की दृष्टि से इसे देखा गया, कितने ही आरोप लगाये गये, कितने ही उपहास हुए, लेकिन अन्त में शक को स्वयं अपने ऊपर शक होने लगा और संदेह, संदेह से ही पानी-पानी हो गया। शक-संदेह मनुष्य में छिपी **'पशुता'** और पशु में छिपी **'मानवता-** की पहचान करा देते हैं। इनसे ऊपर उठकर ही आत्मा के मूलधन **'शान्ति'** और **'प्रेम'** को उपलब्ध हुआ जा सकता है। अन्यथा इस कलह, संघर्ष, तनाव और छीना-झपटी के युग में–ये दोनों कहाँ "शान्ति सुख है उस पार"। इसी प्रकार भलाई, **'परोपकार'** आदि भी सब कहने-सुनने की बातें हैं। जिस पेड़ से छाया और फल मिलने की आशा होती है, उसी में खाद-पानी देता है आदमी। जिससे अपना स्वार्थ सधना हो या जिससे भयभीत हो, उसी व्यक्ति की भलाई की बात करता है आदमी। इसीलिए इस बेचारी सूर्यमुखी को भी फसल बना लिया गया। फसल एक व्यापार, व्यापार एक आयात-निर्यात, आयात-निर्यात,– इसकी पेराई और पेर कर इसके फूलों को खाता है आदमी। यदि इससे तैल और तैल से डालडा न मिलता तो कौन पूछता इसको, न किसी जूड़े में गुँथती, न किसी के कोट में लगती, न किसी के गले का हार बनती और न किसी पत्थर के देवता पर चढ़ती-**'नाम क्या और 'काम'** क्या लिया जाता है। अब काम को कौन देखता है इस प्रतिस्पर्धा के युग में, नाम का ही तो धूआँधार विज्ञापन है। धूआँधार विज्ञापन और धूआँधक्कड़ शहर हो या गाँव, घर हो या बाजार, चारों ओर **'प्रदूषण'** ही प्रदूषण है। राजनैतिक प्रदूषण, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक प्रदूषण और इन सब प्रदूषणों का जनक है यह मनुष्य! अर्थात् **'मानवीय प्रदूषण'** ईश्वर की इस दिव्यसृष्टि को विनष्ट कर देगा। कोई सन्देश, कोई उपदेश, कोई चेतावनी, कोई **'चिट्ठी'** (विनयपत्रिका) भौतिकता की पट्टी बाँधे इस अंधे आदमी को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ नहीं पा रही है। मोड़े भी तो तब, जब कि 'चिट्ठी' समय पर मिले। सर्वत्र भ्रष्टाचार है, कामचोरी है। बस मुफ्त में **'रोटी'** चाहिए बोटी के साथ। सारे उपद्रव इस **'रोटी'** ने खड़े किये हैं। भेद, अलगाव, हत्या, आतंक, लूट-खसोट सब इस रोटी (धन, पद) के कारण हैं। वास्तविक **'प्रसन्नता'** खो गयी है।

'अभिमान' और **'क्रोध'** से सब **अर्थ का अनर्थ** हो गया। 'एकता' अनेकता में बदल गयी। इनसान अपनी **'इनसानियत'** भूल गया। **'राजनीति से धर्म'** को निकाल फैंकने पर तुल गये लोग। विदेशियों को फिर मौका दे रहे हैं तथाकथित देश के कर्णधार! और भारत को गारत करने की निरन्तर जोर पकड़ती साजिशें-

"कहीं बिजली, कहीं गुलचीं, कहीं शैयाद का खतरा।
फले फूलेगी गुलशन में ये शाखे आशियाँ क्यों कर।।"

कब खुलेंगी आँखें ? शायद तब खुलेंगी, जब बन्द होने को होंगी और शायद तब खुलेंगी, जब ये **'डोली बिन महूरत के उठाली जाएगी।'**

ऊपर रेखांकित शीर्षक है **'विजन-वन की सूर्यमुखी'** के संकलित निबंध। मेरी वृत्ति की अभिव्यक्ति !! ये बातें नयी नहीं हैं। उतनी ही पुरानी हैं, जितना मनुष्य के हृदय का इतिहास, हृदय के भावों का इतिहास और भाव कभी पुराने नहीं होते, विचार तुरंत पुराना हो जाता है; भाव किसी से लिया नहीं जाता विचार लिये जा सकते हैं। भाव जितना पुराना होता है, उतना ही नया बना रहता है। वैसे नया तो उसी को कहा जा सकता है, जो आज तक देखा नहीं गया, सुना नहीं गया और पढ़ा नहीं गया और ऐसा लिखने की मेरी सामर्थ्य

नहीं है, क्योंकि देखा हुआ भी अनेदखा रह जाता है; सुना हुआ भी अनसुना रह जाता है और पढ़ा हुआ भी अनपढ़ा होता है। देखते-देखते, सुनते-सुनते या पढ़ते-पढ़ते रह गया होगा ऐसा कुछ, जो मुझे दिखायी दे गया,—मेरे अनुभव में मिल गया और मेरे ढँग से व्यक्त हो गया तथा रह जाएगा इसमें भी मुझसे बचा ऐसा कुछ जो पढ़नेवालों को दिखायी दे जाएगा और उनके ढँग से उनकी लेखनी द्वारा व्यक्त हो जाएगा।

जिन विषयों या बातों पर लिखा जाता है, वे दो तरह की होती हैं, एक तो सामयिक या क्षणिक, पल में बनतीं, पल में मिटतीं—पानी के बुलबुलों की तरह। क्षण-क्षण बदलती हुई—संचारी भावों की तरह। उनका केवल क्षण मात्रके लिए ही महत्त्व होता है। कुछ क्षणों के बाद ही बासी हो जाती हैं—अखबारी खबरों की तरह। कुछ सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनिक बातें होती हैं,—हवा, आग, पानी की तरह, भीतर सदा जमे रहने वाले स्थायी भावों की तरह, जो आदिकाल में थीं, आज भी हैं और कल भी रहेंगी। सारी क्षणिक बातें, सारी विचारधाराएँ इन्हीं से पैदा होती हैं और इन्हीं में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही जैसे बादल आकाश से ही पैदा होते हैं और उसी में समा जाते हैं लेकिन आकाश कभी नहीं मिटता। वह सदा से ऐसा ही है और ऐसा ही रहेगा।

ये निबंध जिन विषयों, बातों, मनोवृत्तियों या भावों पर लिखे गये हैं, वे मेरे हिसाब से यही दूसरी तरह के सार्वकालिक, सार्वदेशिक, सार्वजनिक और शाश्वत हैं। इनकी मूलभूत संवेदना और संचेतना में परिवर्तन नहीं है। यदि परिवर्तन है तो हमारी दृष्टि का है, अनुभूति का है, अभिव्यक्ति का है या अपने-अपने परखने के कोण का है। मैं भी वही पुरातन पुरुष हूँ, जो सभी हैं। आत्मा वही, केवल चोलों का फर्क; अनुभूति वही, केवल अभिव्यक्ति का फर्क; अर्थ वही, केवल अन्दाज़ेबयाँ का फ़र्क; वर्णमाला की वही ध्वनियाँ, केवल संयोजन का फर्क; धातु वही पुरानी, केवल युगानुरूप नयी-नयी चढ़ती गयी पालिशों का फर्क।

मैंने उन्हीं पुरानी धातुओं को पालिश खुरच-खुरच कर देखने-दिखाने की कोशिश की है। इस देखने-दिखाने के संबंध में मेरा न तो कोई दावा है और न कोई वादा। क्योंकि जो कुछ लिखा गया है, उसे पूर्ण भी नहीं कहा जा सकता और अपूर्ण भी नहीं। सही भी नहीं कहा जा सकता और गलत भी नहीं। पहली बात विद्वानों की ओर से कहता हूँ और दूसरी अपनी ओर से-अन्त में दोनों मेरी ओर से लागू हो जाती हैं।

अब पहली बात, इन निबंधों को पूर्ण भी नहीं कहा जा सकता और सही भी नहीं, यह मनीषियों और विद्वानों की बाबत है, क्योंकि जब वे इन्हें पढ़ेंगे तो निश्चित ही उन्हें कुछ ऐसा लगेगा कि 'यह ठीक नहीं', 'वह ठीक नहीं', 'यह भूल', 'कुछ ऐसा-वैसा होना चाहिए था', 'क्या पुरानी घिसी-पिटी बातों पर लिखा है' आदि-आदि। खैर, ऐसे वचन मेरा तो पथ प्रदर्शन ही करेंगे। यदि ऐसे वचन न होते तो आलोचना का जन्म ही न होता। अपनी कमियों को मैं जान ही न पाता।

दूसरा पहलू-अपूर्ण भी नहीं, गलत भी नहीं, यह मेरी ओर से है। यहाँ-तुलसीदास का कथन लागू हो जाता है कि 'निज कवित्त केहि लाग न नीका।' यदि मुझे अच्छा न लगता तो लिखता ही नहीं; अपूर्ण लगता तो पूर्ण बनाने का प्रयास करता; गलत लगता तो सही की कोशिश करता अथवा दावा ठोक देता कि यही पूर्ण है, यही सही है। ऐसा मैं सोच भी नहीं सकता क्योंकि अपनी औकात का मुझे पता है।

अन्त में दोनों ही बातें मेरे ऊपर लागू हो जाती हैं क्योंकि जब लिख रहा था तो

पूर्ण और सही लगता था। लिखने के कुछ दिन बाद पढ़ा या मित्रों को सुनाया तो कुछ अधूरा सा, कुछ गलत सा लगने लगा, कुछ काट-पीट, कुछ जोड़-तोड़ हुआ और जब छप जाएगा तो कमियाँ, तराशी हुई मूर्ति की तरह सदा के लिए जड़ीभूत हो जाएँगी और एक अनुताप रह जाएगा हृदय को दहकानेवाला कि सब बेकार हो गया ! अब मैं क्या कहूँ इन निबंधों के बारे में ? बड़ा असमंजस खड़ा हो गया है। अत: इस 'आमुख' में अपना मुख बन्द कर, विद्वानों के सम्मुख इस कृति को रखता हूँ। वे जो निर्णय करेंगे, वह मेरा पथ-प्रदर्शन होगा।

विनम्रता के साथ बाद में एक पहली बात,–मेरी आकांक्षा थी कि यह गद्य साहित्य की निबंध विधा, जो गंभीर, ज्ञान-गूढ़, कठिन और क्लिष्ट कही जाती रही है, अन्य विधाओं की तुलना में, वह इतनी रमणीय, पठनीय और सरस बन जाए कि जो भी इसे पढ़े, उन्हें यह अपने साथ रमा ले जाए, बहा ले जाए। ललित निबंध तो ऐसे होते हैं–हो सकते हैं, लेकिन मनोभाव परक विचारात्मक निबंध बड़े उबाऊ होते हैं, ऐसा अधिकांश पाठक कहते-सोचते हैं। ये निबंध अमूर्त भाव-भावनाओं पर हैं, उबाऊ हो सकते हैं–अतएव इनको कुछ इस प्रकार ढ़ाला जाए कि इनके अन्त: बाह्य कलेवर में काव्य रहित काव्य-धर्मिता, कहानी रहित कथापरक रमणीयता, नाटक रहित नाटकीयता, रेखाचित्र रहित चित्रात्मकता, दर्शन रहित दार्शनिकता, मनोविज्ञान रहित मन का विश्लेषण आदि तत्त्वों को लिये हुए, शब्द कुछ इस तरह अठखेलियाँ करते चलें कि पाठक आनन्द विभोर हो सोचने लगें कि अरे यह तो हम भी सोचते हैं, यही तो हम भी कहना चाहते हैं। तात्पर्य यह है कि मेरी बात पाठक की अपनी हो जाए। रमणीयता और पठनीयता के लिए दो चार निबंधों में उर्दू के शेर उद्धृत किये गये हैं, जिनके कारण उद्धरण बहुलता का दोष इनमें माना जा सकता है। फिर भी मेरे इस बाल-प्रयास में, विद्वानों को, उपर्युक्त बातों की, थोड़ी भी गंध मिली और ये रचनाएँ आस्वाद्य लगीं तो मैं धन्यभागी होऊँगा।

गुरुवर डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन', डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, डा० रामचन्द्र तिवारी एवं बंधुवर श्री विजयरंजन वर्मा को कभी नहीं भुलाया जा सकता, जिनका आशीर्वाद सदा मेरे साथ रहा है। इस कृति को इतनी जल्दी प्रकाशित कर हिन्दी संसार के सम्मुख लाने के लिए बन्धुवर डा० कमलसिंह को और पूर्व संग्रह 'भाव-चिन्तन' के निबंधों पर अपनी अमूल्य सम्मति एवं स्वीकृति भेजने के लिए परम पूज्य गुरुओं एवं उन सभी विद्वानों और समीक्षकों को, जिन्होंने 'भाव-चिन्तन' के निबंधों को स्वीकार किया–हिन्दी निबंध साहित्य में स्थान दिया, प्रणाम निवेदित करते हुए, इस 'सूर्यमुखी' को उदन्त मार्तण्ड, स्वनामधन्य, श्रद्धेय पं० विद्यानिवास जी मिश्र को समर्पित करता हूँ–

'गुरु बिनु मिलइ कि ज्ञान'

विनीत :

दरवेश सिंह

रीडर, हिन्दी-विभाग
जवाहरलाल नेहरू पोस्ट ग्रेजूएट कालेज,
महाराजगंज (उ० प्र०)-२७३३०३

१. करुणा

परदुख के कारण उत्पन्न होनेवाले और परसुख के निमित्त प्रवृत्त करनेवाले मनोभावों की एक विकासशील शृंखला है, जिसकी पहली कड़ी सहानुभूति, दूसरी समानुभूति, तीसरी दया या अनुकम्पा, चौथी कृपा, पाँचवीं अनुग्रह और छठी या अन्तिम कड़ी, (इसे अन्तिम छोर कहा जाए तो अधिक उपयुक्त रहेगा) करुणा है। करुणा के बाद, करुणा और करुणा-निधि के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता। करुणा के लोक में पहुँचते ही मन के सारे विलोम-विपर्यय, भेद-अलगाव, गल-पिघलकर पीछे की ओर बह जाते हैं। इन सारे मनोभावों की बुनियाद या तो परदुख है या सुख में दुख की आशंका, लेकिन प्रवृत्तियाँ सबकी भिन्न हैं।

सहानुभूति सुख और दुख दोनों अवस्थाओं में व्यक्त की जाती है। दुखी व्यक्ति को देखकर व्यक्त की जानेवाली सहानुभूति में वास्तविक दुख नहीं होता, दुखी दिखने का दिखावा या ढोंग होता है। सहानुभति में न तो हृदय का कोई आवेग होता है, न कोई टीस, न संवेदन और न भीतर का कोई स्राव और बहाव ! केवल बाहर थूक के आँसू दिखायी देते हैं। दुखी व्यक्ति के सामने से हटते ही सहानुभूति व्यक्त करनेवाले के दिल और दिमाग में उसके दुख की लकीर तक नहीं रह जाती। सत्य तो यह है कि बिना करुणा की स्थिति को प्राप्त किये कोई दूसरों के दुख से नहीं रोता। जब कभी हम दूसरों के दुख को देखकर रोते हैं, वहाँ निश्चित ही हमें उसके दुख से मेल खाता हुआ कोई अपना दुख याद आ गया होता है। जो लोग सहानुभूति के तथाकथित दुख को वास्तविक दुख बताते हों, वे इन पंक्तियों को पढ़कर अपने भीतर झाँक कर देखलें–

कौन रोता है किसी और की खातिर ऐ दोस्त।
सबको अपनी ही किसी बात पे रोना आया।।

दुख के उभार का अर्थ है कि उसके आगे हृदय की सारी वृत्तियाँ दब जाएँ, लेकिन सहानुभूति व्यक्त करते समय हार्दिक दुख का आवेग तो दबा होता है और अन्य वृत्तियाँ जागरूक होकर सक्रिय हो जाती हैं। उस समय सहानुभति व्यक्त करनेवालों की वाक्‌चातुरी, भाषण-कला, उपदेशात्मक शैली देखने लायक होती है। दुखी व्यक्ति को सांत्वना देने या धैर्य बँधाने के बहाने कुछ क्षणों के लिए तो आदमी बड़ा भारी पंडित, ज्ञानी, दार्शनिक और कवि हो जाता है। गीता, कुरान और पुरान उसके इशारों पर नाचते हैं। हृदय का आदेग दबा हुआ और बुद्धि का वेग बढ़ा हुआ होता है, सहानुभूति में ! अतः सहानुभूति शाब्दी हमदर्दी है, आर्थी बेचैनी नहीं। यह सामाजिक जीवन के लिए एक व्यावहारिक औपचारिकता मात्र बनकर रह गयी है, जिसमें रस्म अदायगी ही होती है–त्याग और क्रियाशील सहायता वृत्ति नहीं। सहानुभूति अँग्रेजी शब्द 'सिम्पैथी' का समानार्थी है जो अपने पड़ोसी, पुरजनों, दूर के परिचितों, जिनसे हमारा कोई विशेष काम नहीं पड़ता, के दुख के समय व्यक्त की जाती है।

सहानुभूति का मनोविज्ञान बड़ा मनोरंजक है। हम किसी के दुख में शरीक होते हैं ताकि उसके दुख को बाँटें, कोई मदद करे, लेकिन हकीकत यह है कि हम दुखी के दुख की कहानी सुनने जाते हैं। उसके घर पहुचने से पहले अपनी मुसकान के ऊपर उदासी ओढ़ लेते हैं फिर वहाँ पहुँचकर मुँह लटकाए हुए उदास बैठ जाते हैं। अब आस-पास बैठे हुए लोगों से चेष्टाओं के द्वारा या फुसफुसाकर पता लगाने की कोशिश करते हैं कि 'क्या हुआ', 'कैसे

हुआ' कहाँ हुआ', 'कब हुआ', 'बडा बुरा हुआ', 'पर खैर किया क्या जा सकता है', 'विधि के विधान को आजतक कौन टाल पाया है', 'जो आया है, उसे एक दिन जाना है', 'कृष्ण ने अर्जुन से कहा था', 'फलाने ने ढिकाने को यह दिखाया, वह दिखाया।' मतलब यह कि जीव, ब्रह्म, माया और प्रकृति सारे दार्शनिक तत्त्व हमारी वाणी से बरसने लगते हैं। चुपचाप बैठकर सुननेवालों के सामने हमारी अकड़ देवगुरु बृहस्पति से उस समय कम नहीं होती। सहानुभूति के कोश में घुटे घुटाये आँसुओं के पन्नों पर रटे रटाये शब्द' होते हैं।

सहानुभूति में भीतर की रुखाई, ऊब, कोफ्त और अन्यमनस्कता बाहर से विषाद गीली चादर ओढ़े बैठी रहती है। मन में आतुरी मची रहती है कि कब निकल कर भागें। अपना छुटा हुआ काम बार-बार खींच रहा होता है। बिना हृदय के योग की बौद्धिक दुआएँ देकर कि 'ईश्वर आपको कष्ट सहने की शक्ति तथा धैर्य प्रदान करें' हम उस कष्टप्रद वातावरण से बाहर निकल चैन की साँस लेते हैं।

दूसरों के दुख में व्यक्त की गयी सहानुभूति भले ही दिखावटी हो, लेकिन उसके भीतर पर-अहित या अमंगल का भाव प्रायः नहीं होता: जबकि दूसरों की खुशी या तरक्की पर हम अपनी खुशी ज़ाहिर करने जाते हैं तो उसमें भीतर एक डाह और बाहर वाह-वाह होती है। यदि डाह या जलन नहीं तो कोई लालच या स्वार्थ झूठी बधाई दे रहा होता है। अत: सहानुभूति में चापलूसी भरी तारीफ़ होती है। यह तारीफ़ भी तभी तक होती है, जबतक कि हमारे स्वागत सत्कार में या आवभगति में कोई कमी नहीं होती। जरा सी कमी, जरा सी उपेक्षा से यह तारीफ़ चौगुनी निन्दा का रूप धारण कर लेती है।

शोक-सभाओं की सहानुभूति में दो मिनट का मौन दो मन का हो जाता है। बीच-बीच में पलकें फड़फड़ाती रहती हैं। दिवंगत आत्मा की शान्ति और सद्गति का ध्यान बेजान शब्दों के अलावा और किसे होता है? पहले ठहाके और बाद में ठहाके; काम से छुट्टी मिल जाने की खुशी !!

समानुभूति (एम्पैथी) का अर्थ है आश्रय के हृदय में आलम्बन के सुख या दुख की यथावत अनुभूति। अर्थात् सुख-दुख दोनों अवस्थाओं में तदनुसार उल्लास,जड़ता,आवेग,कम्प,त्वरा आदि के द्वारा प्रकट होकर आश्रय को आलम्बन के समान धरातल पर लेजाकर खड़ा कर देने वाला मनोभाव समानुभूति है। समानुभूति का दायरा बहुत संकीर्ण होता है। यह विशेषकर अपने अतिनिकटवर्ती आत्मीय या स्वजनों, जिनपर हमारे जीवन का कोई अनिवार्य अंश अवलम्बित होता है, के सुख या दुख से उत्पन्न साधारणीकृत या संभावित अवस्था है। जबतक व्यक्ति माँ-या बाप नहीं बनता तब तक उसे समानुभूति का पता नहीं चलता। अपनी संतान के दुख से बैचेन हो जाना, छटपटाना, दुख को दूर करने के लिए तन, मन, धन सबकी बाजी लगा देना संतान के सुख से खुशी मनाना, प्रसाद बाँटना, दावत देना आदि बातें समानुभूति के कारण उत्पन्न होती हैं। वियोगावस्था में प्रिय के दुख की या अशुभ की आशंका से काँप-काँप जाना, स्वप्न में देखना, हृदय का थरथराना, शुभ या अशुभ शकुन जैसे आँख-बाँह फड़कना आदि के कारण मन में अधीरता, बेचैनी या खुशी की लहरें उठना समानुभूति से उत्पन्न लक्षण हैं। समानुभूति में करुणा के बीज का अधिवास है। इसमें अपने रक्त के संबंधियों के प्रति द्रवतामयी इच्छा और क्रिया का योग रहता है। कभी-कभी हम किसी नाटक या फिल्म के दृश्य को देख अपनी स्थिति को भूलकर रोने या हँसने लगते हैं। उस समय हम लगभग समानुभूति की अवस्था में होते हैं। सीमित दायरे को छोड़ यदि यह समानुभूति, समष्टि तक

फैल जाए तो करुणा का रूप ले सकती है।

दया अपनी संतान के अतिरिक्त जो परिचित-अपरिचित शेष सृष्टि है, उसके दुख को देखकर, रक्षण की क्रियाओं से रहित, हृदय की द्रवतामयी भावना (कृत्रिम या अकृत्रिम) दया है। अर्थात् दया भावुक हृदय की वह आवेगमयी वृत्ति है, जो दूसरों के दुख को देखकर आश्रय को तड़पा तो सकती है, लेकिन इलाज कराने की भागदौड़ नहीं करा सकती। डूबते को देखकर किनारे पर खड़ी हाथ पैर पटककर हो-हल्ला तो मचा सकती है, लेकिन पानी में कूदकर डूबनेवाले की जान नहीं बचा सकती। इन दो पंक्तियों में एक शायर ने दया के स्वरूप को व्यंजित करने का प्रयास किया है:

साहिल के तमाशाई हर डूबनेवाले पर
अफ़सोस तो करते हैं,इमदाद नहीं करते।।

अत: दया बिना इमदाद का अफ़सोस है। अनुकम्पा दया का समकक्ष या पयार्य है। अर्थात् दया या अनुकम्पा में दूसरों के दुख को देखकर हृदय द्रवित तो होता है, लेकिन किसी विवशता, अभाव, कमजोरी, नियम, प्रतिज्ञा, वचनबद्धता या असामर्थ्य के कारण हृदय की वह द्रवणशीलता पूर्ण परिरक्षण या साहाय्य की क्रियाओं में परिणत नहीं हो पाती। 'अनुकम्पा' के शाब्दिक अर्थ के आधार पर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि यह वह वृत्ति है जो दुखी को या प्रताड़ित को देखकर आदमी को कँपा सकती है, सहमा भी सकती है, थरथरा सकती है, रुला सकती है– लेकिन उसे बचा नहीं सकती, उसकी सहायता नहीं कर सकती'। द्रौपदी के चीर हरण के समय पांडवों, भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य का जो विवशता भरा हृदय-विदारक दुख था, वह दया या अनुकम्पा थी। वे काँपते-कलपते तो रहे पर कोई सहायता नहीं कर पाये।

दया का उल्टा क्रोध है, जो दुखी को दुख देनेवाले कारक के प्रति पैदा होता है, उस समय वह भी क्रियात्मक रूप नहीं ले पाता। दया के पात्र पर भी क्रोधमिश्रित उपेक्षा या तिरस्कृति पैदा हो जाती है, जब वह अपने किसी अपराध को छिपाकर दुख के नाटक से हमारी दया अर्जित करना चाहता है। जैसे दया और अनुकम्पा क्रियाहीन भावदशाएँ हैं, वैसे ही इनके विलोम क्रोध, उपेक्षा और तिरस्कार भी, केवल मन को मसोसकर और दाँती भिंचवाकर उससे पल्ला छुड़ाकर अलग हटानेवाली, क्रियाविहीन भावदशाएँ हैं। दया अपमानजनक शब्द भी है। इसमें दया करनेवाले का अहंकार और आलम्बन की निरीहता, कायरता, विवशता, अपंगता भी झलकती है। स्वाभिमानी के लिए दया गाली से कम नहीं है। दान में, भीख में, गरीबों की सहयता में, बाढ़ या भूकम्प पीड़ितों की मदद आदि में दया ही होती है। दया के आश्रय में अपने नाम का अहंकार होता है। दया दुखी की कुछ मदद करके पल्ला झाड़कर अलग हो जाती है तो करुणा दुख के कारणों में डूबकर खुद दुख बन जाती है।

कृपा दूसरों के दुख को देख या सुनकर हृदय की द्रवणशीलता, उस दुख को दूर करने के लिए जब मन, वचन और कर्म से क्रियाशील हो जाती है तो वह कृपा कही जाती है। अर्थात् नि:स्वार्थ हृदय की परहित-साधिका वृत्ति सत्य और न्याय के लिए अपना सुखचैन विसार कर, सारी जोखिम सहन करके, अविचलित भाव से सहायक हो जाती है तो कृपा बन जाती है। द्रौपदी की कातर पुकार सुनकर श्रीकृष्ण का उसके चीर को अक्षय कर सहायता करना कृपा थी। जलते हुए की छटपटाहट को देख, अपने जलजाने की बिना परवाह किये, उसे बचाने के लिए, भयंकर आग में कूद जाना कृपा है। डूबते हुए को बचाने के लिए अथाह

पानी में कूद जाना, कृपा है। सामान्य रूप से लोगों के द्वारा पूछे जाने पर कि 'क्या हाल-चाल हैं' तो हम झट से कह देते हैं कि 'आपकी कृपा है।' यहाँ कृपा शब्द उपयुक्त नहीं है। इस संदर्भ में तो 'दया' शब्द भी भारी है। कृपा भी भाषाई तकल्लुफ़ हो गयी है। द्रवणशीलता और क्रियाशीलता के योग का नाम कृपा है।

तुलसीदास ने कहा है कि "जापर कृपा राम की होई। तापर कृपा करै सब कोई।।" यह कथन अलौकिक दृष्टि से अन्तिम निष्कर्ष पर जाकर सत्य हो सकता है, वैसे लौकिक दृष्टि से तुलसीदास भी जीवन भर देखते रहे कि लोगों ने उनके ऊपर कितनी कृपा की? और आज भी हम देखते हैं कि किसी बड़े आदमी की कृपा का पात्र कोई छोटा आदमी बन जाए तो अन्य लोगों की आँखों को उससे कितना आनन्द और दिल को कितना सुकून मिलता है?? अत: लोक में किसी की कृपा का पात्र अधिकांशत: तो उसके समकक्ष दूसरे लोगों का कोप अथवा द्वेष का भाजन बन जाता है। व्याज स्तुति और व्यंग्य में कृपा, कष्ट को व्यंजित करती है।

अनुग्रह कृपा से ऊपर है। सहानुभूति, समानुभूति, दया या अनुकम्पा में सभी वृत्तियाँ शुद्ध लौकिक हैं। कृपा में लौकिक अलौकिक का मिश्रण है: लेकिन अनुग्रह शुद्ध अलौकिक कृपा-भाव है। भगवान् की अहैतुकी असीम कृपा का नाम अनुग्रह है, जो लगभग करुणा का समान-धर्मा है। भक्त के संपूर्ण समर्पण के बाद भगवान् का अनुग्रह होता है। अनुग्रह का शाब्दिक अर्थ है 'पीछे से पकड़ना या पीछे-पीछे आना'। कृपा के लोक तक तो भक्त का प्रयास रहता है कि ईश्वर उस पर द्रवित हो जाए, लेकिन इस लोक से आगे बढ़ते ही, जब उसकी सारी आशा-आकांक्षाएँ निष्प्रभावी हो जाती हैं, यहाँ तक कि ईश्वर को पाने की चाह भी नहीं रहती, तब फिर ऐसे भक्त के लिए स्वयं भगवान् उसके पीछे तड़प कर भागता है। मैथिलीशरण गुप्त ने ठीक कहा कि, "भक्त कहीं जाते नहीं, आते खुद भगवान्।" कबीर ने स्वयं अपना उदाहरण देकर भगवान् के अनुग्रह का चित्ताकर्षक चित्र खींचा है:

"कबीर मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर।
पीछे-पीछे हरि फिरें, कहत कबीर कबीर।।"

यह है अनुग्रह!!

कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी छोटी सी चीज की प्राप्ति के लिए हमारे भारी प्रयास थक जाते हैं, लेकिन वह चीज नहीं मिल पाती और जब हमारे सारे प्रयास शिथिल हो जाते हैं, प्राप्ति की कोई कामना भी नहीं रहती तो अचानक उससे भी बड़ी चीज मिल जाती है।

'चाहे पर ओस नहीं पड़ती, अनचाहे घटा बरस जाए।'

और हम विस्मय-विमुग्ध रह जाते हैं कि यह सब कैसे हुआ? यह किसी अदृश्य सत्ता के अनुग्रह के कारण हुआ।

एक शायर ने कहा है:

"भागती फिरती थी दुनिया जब तलब करते थे हम,
जब हमें नफरत हुई, वह बेकरार आने को है।।"

इन पंक्तियों की 'दुनिया' को 'दुनिया' के मालिक-अर्थ में और 'नफरत' को अनासक्ति के अर्थ में लिया जाए तो 'वह बेकरार आने को है' वाक्य कबीर के 'पीछे-पीछे हरि फिरें कहत कबीर कबीर' का प्रतिबिम्ब और 'अनुग्रह' का सच्चा बिम्ब दिखाई देगा। किसी भक्त

की इस पंक्ति में "हमें चिंता नहीं उनकी, उन्हें चिंता हमारी है।'' 'अनुग्रह का विश्वास झलक रहा है।

करुणा पूर्वोक्त सभी भावों या वृत्तियों का मूल उद्‌भावक पर दुख है, यह कहा जा चुका है, लेकिन यह एक दुख उस एक पानी के समान है, जो भिन्न-भिन्न माध्यमों या पात्रों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्राणियों को, भिन्न-भिन्न प्रकार से , अलग-अलग 'अनुभूति-तृप्ति' प्रदान करता है, लेकिन परम तृप्ति नहीं जैसे, सहानुभूति का दुख पोखर के पानी के समान हैं। समानुभूति का दुख,घर में बने हुए व्यक्तिगत कुए या नल के पानी के समान है। दया का दुख पहाड़ी झरने या जलाशय के जल के समान है। कृपा का दुख रेगिस्तान में बनायी गयी नहर के जल के समान है और अनुग्रह या करुणा का दुख,अक्षयता में सागर के जल के समान तथा उपयोगिता, पवित्रता एवं संतृप्ति देने में गंगाजल और वारिद-वारि के समान है। परम तृप्ति दायक यही है, अमृत यही है।

सहानुभूति में आलम्बन के दुख से आश्रय थोड़ा रोमांचित होता है: समानुभूति में हाथ-पैर ढीले और हक्का बक्का हो जाता है: दया या अनुकम्पा में पसीजकर पिघलकर, काँपकर हाथ मलता रह जाता है: कृपा में नंगे पाँव दौड़कर रक्षा करता है और अनुग्रह-करुणा में आर्त की ढाल बन जाता है कि उसके दुख को अपना दुख बना लेता है। आश्रय और आलम्बन भिन्न होते हुए भी अभिन्न हो जाते हैं। एक दूसरे पर ऐसे बरसते हैं, जैसे–

"सखि कारी घटा बरसै बरसाने पै,गोरी घटा नंद गाम पै री।"

यह करुणा की बरसात है, जिससे राधा और बरसाना तथा कृष्ण और नंदगाँव ही नहीं भीगे, सारी सृष्टि भीग गयी, सारी मानवता का तन भीगा और मन भीग गया!

अत: आलम्बन के मुक्त हृदय की अनन्य पुकार या हूक या सदा सर्वस्व समर्पण के साथ, परीक्षाओं की आग में तपकर, जब उस भाव-दशा पर पहुँच जाती है, जहाँ घोर कष्ट सहते हुए भी, उसके निवारण की इच्छा नहीं जगती-बल्कि वह दुख ही मंगल-प्रसाद जैसा लगता है। सारे काम बिगड़ जाने पर भी, कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं उठती-बल्कि वही अपनी नियति जान पड़ती है। किसी प्रकार का कोई निषेध, कोई अवज्ञा का भाव पैदा नहीं होता-चाहे सब कुछ लुट जाए, सब कुछ मिट जाए-पर भीतर की वह हूक न मिटे तो मेघमाला से स्वाति बूँदों के समान करुणा बरसती है।

तो करुणा घनीभूत दुख के कारण अथवा मृत्यु या मृत्यु की कल्पना से उद्‌भूत, विश्व-हृदय की वह द्रवणशील वृत्ति है, जिसमें परहित-साधिका इच्छा, सबकुछ दे डालनेवाली या कर डालनेवाली क्रिया तथा अपने आप को भूलकर स्वयं आलम्बन बन जाने की साधारणीकृत उद्दाम भाव दशा होती है। करुणा के आश्रय के लिए दूसरों का दुख, दूसरों का नहीं, उसका अपना होता है। चोट दूसरों को लगती है, दर्द उसको होता है। एक बार स्वामी रामकृष्ण परमहंस नाव से नदी पार कर रहे थे। नाव में बैठे-बैठे ही वे अचानक चीख पड़े कि 'अरे मुझे मत मारो,मुझे मत मारो।' शिष्य घबराकर देखने लगे कि क्या हुआ इन्हें? मारने वाला तो यहाँ कोई नहीं है। स्वामी जी बार-बार किनारे की ओर हाथ उठाते और कराह उठते कि 'मुझे मत मारो'। उनकी पीठ पर छाले उभरने लगे, लहू छलकने लगा। नाव किनारे पर पहुँची तो देखा कि कुछ लुटेरे एक आदमी को बाँधकर मार रहे थे। पीटा कोई जा रहा था, चोट के निशान स्वामीजी के शरीर पर उभर रहे थे। यह करुणा-कलित विश्व-हृदय है जिसमें जीवमात्र के दुख से विकल रागनी बजती है और ... स्वरों में असीम वेदना

की गर्जना होती है। फिर-......"घुल-घुलकर रह-बह जाते आँसू करुणा के कण से।"

द्रवण भाव, जो इस प्रकार के सभी भावों में घुला हुआ है, बीज है तो करुणा उस बीज का पूर्ण विकसित रूप वृक्ष है। व्यष्टि के धरातल से उठकर यह द्रवणता ही समष्टिगत रूप लेकर करुणा बन जाती है। सारी प्रकृति करुणा की देवी है। जल,वायु,वृक्ष,सूर्य,चन्द्र सभी करुणा लुटा रहे हैं। ताप से तपी हुई धरती की पुकार से आनेवाली सावन की बरसात करुणा है। पतझड़ के थपेड़ों से थरथराई वनस्पतियों पर झूमकर छा जानेवाली बसंत बहार करुणा है। अँधेरे के आतंक से भयभीत रात का दुख दूर करनेवाली उषा की लाली करुणा है। भूखे शिशु की शब्दहीन पुकार से माँ की छाती में उमड़ी दूध की धार करुणा है।

'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' वाक्य निश्चित ही करुणा की कोख से जन्मा होगा। करुणा ही शत्रुता में मित्रता की झलक दिखा सकती है। वासना में ईश्वरीय प्रेम पैदा कर सकती है। भय-आतंक में रक्षण और सौहार्द का भाव जगा सकती है। हिंसा और अनेकता के विष में अहिंसा और एकता का रस भर सकती है। सचमुच करुणा वह लोक है,–

"जिस जगह आकर फरिश्ते भी ठहर जाते हैं शेख"

लेकिन इस लोक या मुकाम की प्राप्ति कोई हँसी-खेल नहीं है। ठीक कहा आ० शुक्ल ने कि 'करुणा सेंत का सौदा नहीं है।' करुणा के जागरण का कारण केवल दुख ही नहीं है उससे भी आगे बढ़कर सुख-सौन्दर्य में भी मृत्यु की कल्पना से हृदय का काँप उठना है। सहानुभूति से उठकर दया,कृपा के सोपानों को पार करते हुए करुणा के लोक में पहुँचने के लिए सबसे पहले जीव-मात्र के प्रति 'पर भाव' का लोप और 'आत्म भाव' की स्थापना है। इसके बाद हर जीव और पदार्थ की सत्ता,महत्ता,सुन्दरता,उपयोगिता,आवश्यकता आदि की जड़ों का भीतर गहराई तक उतर जाना है। फिर इनके लिए रक्षण का भाव ऐसे उठ खड़ा हो जैसे हम अपनी आँख की ओर आती हुई हवा से भी अपनी पलकों को बन्द कर लेते हैं। तब किसी के अनिष्ट की आशंका अथवा अनिष्ट को देख हृदय की जो पिघलन है और उस अनिष्ट के निवारणार्थ उस हृदय का जो सक्रिय बहाव है, वही करुणा है और इसी भावदशा में सदा के लिए ठहर जाना, करुणा के लोक की प्राप्ति है।

केवल दुख से तो दया,कृपा आदि के भावों का जागरण होता है, लेकिन चलती-फिरती जिन्दगी में यदि मृत्यु की छाया दिखायी दे जाए: हँसते हुए चेहरों के पीछे छिपे आँसू दिखायी दे जाएँ: खिले हुए फूलों के मुरझाने का अहसास हो जाए: संयोग में वियोग की पीर कसक जाए: नयी सुबह पर नजर टिकते ही यह डर भी यदि बैठ जाए कि, "ये सहर भी रफ्ता-रफ्ता कहीं शाम तक न पहुँचे।" तब करुणा की सीमा में प्रवेश समझा जा सकता है।

अनिष्ट की आशंका घनीभूत होकर सबके हृदयों में एक-दूसरे के प्रति हित और मंगल-भाव भर दे तो 'जीओ और जीने दो' का जो स्वर फूटता है, वह करुणा की बाँसुरी से आता है। करुणा से यदि किसी की शत्रुता है, तो आज की राजनीति की।

संबंधों का ज्ञान होने से पूर्व बच्चे का हृदय बीतरागी होता है, जिसमें न तो कोई भाव होता है और न कोई विचार। अपने-पराये की धारणा भी उसमें जन्म नहीं ले पाती। संबंध-ज्ञान होने के बाद उसमें आवेग रहित दुख या सहानुभूति का उदय होता है। तदन्तर यह सहानुभूति दया में बदलती है: क्योंकि बच्चा दूसरों के दुख को देखकर विह्वल और द्रवित तो होता है, लेकिन उसमें परिरक्षण की भावना या क्रिया नहीं होती। इसके बाद जब उसमें गुणों की परख-दृष्टि आ जाती है और सच्चाई का ज्ञान होने लगता है तो शुभ-अशुभ के

हिसाब से उसमें कृपा या क्रोध के भाव पैदा होते हैं। फिर यह कृपा-भाव जब इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि धर्म की रक्षा और अधर्म का विनाश करना, उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है: उसके अपने सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण कुछ अर्थ नहीं रखते और व्यक्ति नहीं अपितु समष्टि ही उसका कर्म-केन्द्र बन जाता है तो वह सच्चा करुणा-निधान कहा जाता है। पर दुख-हरण की निस्वार्थ, निस्पृह उपकृति की आत्मा है, करुणा।

व्यक्ति और परिस्थिति-भेद से सहानुभूति कभी भी व्यंग्य, उपहास, खिल्ली या निन्दा का रूप धारण कर सकती है: वास्तविकता से विपरीत स्थिति देख, दया-अनुकम्पा पत्थर-प्रतिमा बन सकती है और कृपा भी कोप, उपेक्षा या तिरस्कृति में बदल सकती है, लेकिन यदि सच्ची करुणा जग गयी तो वह प्रतिकूल नहीं हो सकती। करुणा का न तो कोई विलोम है और न कोई पर्याय। इसके लिए तो यही कहा जा सकता है कि करुणा दर्द से उभरा दर्द-निवारक दर्द है– ठीक 'दरद' शब्द की तरह कि "मैं हूँ हर्फे दरद, जिस पहलू से देखो दरद है।"

करुणा सिर्फ करुणा है। हाँ आलम्बन का अहंकार थोड़ी देर के लिए उसके मार्ग में गत्यवरोधक बन सकता है या लोक-मंगल का ध्यान रखते हुए बहुत भीषण परिस्थितियों में करुणा के मुँह से शाप निकल सकता है, लेकिन यह अपवाद है।

करुणा में न तो क्रोध होता है और न प्रतिशोध, क्योंकि यह प्रबोध के बाद पैदा होती है। जब तक प्रबोध नहीं, तभी तक विलोम हैं, तभी तक पर्याय हैं। प्रबोध के बाद तो समता है, सात्त्विकता है और शील है। भगवान् बुद्ध को लोग गाली तो देते ही थे, कोई-कोई उनके ऊपर थूक भी देता था, लेकिन बुद्ध मुसकराकर कहते थे 'कुछ और कहना है भन्ते!' यही बुद्ध की करुणा थी। एक बार बुद्ध नदी में नहा रहे थे। उनके सामने बहता हुआ एक बिच्छू आ गया। बुद्ध का हृदय द्रवित हुआ और उन्होंने अपने हाथ पर उसे उठा लिया। उठाते ही बिच्छू ने काटा। हाथ काँपा और बिच्छू पानी में गिर गया। फिर उठाया, बिच्छू ने फिर डंक मार दिया। तीन बार यही क्रम चला कि बिच्छू काटे बिना न माना, बुद्ध उठाये बिना न रहे। आनन्द इस खेल को देख रहा था। आखिर उससे न रहा गया तो कहा कि 'प्रभो यह कृतघ्न बचाते हुए भी काटे जा रहा है तो छोड़िए इसे मरने दीजिए। 'बुद्ध ने कहा 'आनन्द! अपना-अपना स्वभाव है। काटना इसका स्वभाव है तो बचाना मेरा स्वभाव है। जब यह कीड़ा अपना स्वभाव नहीं बदल पा रहा है, तो मनुष्य होकर अपना स्वभाव मैं कैसे बदल दूँ।'

करुणा मनोभाव नहीं दिव्य स्वभाव है, जिसमें प्रतिकूल प्रतिक्रिया, घृणा और क्रोध नहीं होता। अपितु करुणा ऐसा पारस पत्थर है, जिसके संसर्ग से कुधातु भी कंचन बन जाती है।

करुणा बदलती नहीं, बदल देती है। कोरे शब्दों से दुखिया का दिल नहीं बहलाती. अपने आँसुओं के जल से उसके चरण पखारती है। प्रत्यक्ष में कुछ देती हुई दिखाई नहीं देती, परोक्ष में राजा बना देती है।

कृतज्ञता, श्रद्धा, प्रेम, त्याग, क्षमा, अहिंसा, परोपकार आदि करुणा की संतान हैं। मनुष्य का अंतिम विकसित रूप करुणा है। जिस हृदय में करुणा नहीं जगी, वह हृदय नर-पिशाच की खोह है, जिसमें क्रूरता, हिंसा, आतंक, विद्वेष और विघटन के विषैले पशुओं का आवागमन बना रहता है।

सहानुभूति, दया, कृपा आदि के पीछे किसी न किसी कारण या स्वार्थ की झाँई मिल सकती है। मुँह से कुछ कहा जाए या न कहा जाए, लेकिन भीतर एक अभीप्सा, एक अपेक्षा

या चाह बनी रहती है कि यदि मेरे ऊपर थोड़ी सी दया-दृष्टि, थोड़ी सी कृपा की कोर हो जाए तो मेरा जीवन धन्य हो जाए। जबकि करुणा, अभीप्सा रहित, वांछा-शून्य, अपेक्षा-विरत, केवल हिरियाती, थरथराती, भोली भाव-दशा पर उमड़ती है,जो भावदशा ज्ञान,गुण,सेवा,पूजा,पुण्य,भक्ति आदि की बैसाखी पर खड़ी नहीं होती, अपितु इन सबके अहं को त्याग इष्ट के समक्ष नंगी खड़ी हो जाती है। अपना दुख व्यक्त करने में उसकी वाणी भी रुद्ध हो जाती है। यदि स्थिति को देखकर करुणा नहीं जागी तो शब्दों से क्या जगेगी? करुणा के सच्चे पात्र की आवाज तो यही है कि-

"लवे इज़हार की ज़रूरत क्या? आप हूँ अपने दर्द की फ़रियाद।"

बस ,दर्द ही काफी है,करुणा के लिए, न उसका इजहार न उससे त्राण की गुहार !

परायी पीड़ा का अनुभव, करुणा के अलावा और कोई भाव, उतनी गहराई तक नहीं कराता। सहानुभूति घड़ियाली आँसू बहाकर आवेग रहित शब्दों से थोड़ा पुचकार जाती है: दया-अनुकम्पा थोड़ी पसीजकर, काँपकर कुछ ढाढस बँधा जाती है और कृपा थोड़ी रुक-ठहर कर, उठाकर अपनी बाँहों के सहारे दरवाजे तक पहुँचा जाती है किन्तु करुणा जननी की वत्सलता की तरह, पतिव्रता की सेवा की तरह, अन्त तक साथ नहीं छोड़ती। स्वयं दुखी होकर भी, दूसरों का दुख देख, वह अपना दुख भूल जाती है। स्वयं भूखी-प्यासी होकर भी, दूसरों की भूख-प्यास देखकर, वह अपनी भूख-प्यास भूल जाती है।

करुणा के आश्रय में बाहर से रुक्षता, कठोरता हो सकती है, लेकिन उसका हृदय तरल होता है। तुलसी दास द्वारा वर्णित संत सच्चे करुणा-पुंज हैं;

"निज परिताप द्रवइ नवनीता।
पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।।"



२. कृतज्ञता

कृतज्ञता अच्छे-बुरे की सीमा से ऊपर उठा हुआ दिव्य भाव है, अलौकिक अनुभाव है। यह वाचिक अभिव्यक्ति नहीं, अपितु कृत्य के माध्यम से समूचे व्यक्तित्व तथा उदात्त मूल्यों की विनम्र हार्दिक स्वीकृति एवं तदनुकूल कर्म की परिणति भी है। कोई हमारे साथ शुभ करे या अशुभ, दोनों से अनुकूल प्रेरणा लेकर हृदय का धन्यता से पूरित हो जाना कृतज्ञता है। किसी के किये हुए पर अहसानमन्द होना कृतज्ञता है। कृतज्ञता को व्यक्त या ज्ञापित नहीं किया जा सकता। जो ज्ञापित की जाती है,वह कृतज्ञता नहीं, प्रशंसा कही जाती है और प्रशंसा निन्दा का ही बदला हुआ रूप है। ज्ञापित की हुई कृतज्ञता परिस्थिति बदलने पर कभी भी कृतघ्नता बन सकती है। प्रशंसा किसी में अहंकार और घमंड भी पैदा कर सकती है। अन्ततः दोनों ही पक्षों के लिए घातक सिद्ध हो सकती है, क्योंकि इसका जन्म स्वार्थ के अणुओं से होता है। कृतज्ञता के जन्म लेते ही अहंकार की मृत्यु हो जाती है और श्रद्धा का उत्सव प्रारम्भ हो जाता है।

कृतज्ञता के पीछे श्रद्धा छिपी रहती है। दोनों एक ही लगती हैं, लेकिन हैं अलग। यदि श्रद्धेय हमारे लिए कुछ भी न करे तो भी उसके अनुपम गुणों को देखकर श्रद्धा हो सकती है, लेकिन कृतज्ञता का भाव उसी के प्रति जगता है, जो हमारे लिए कुछ निस्वार्थ करता है, चाहे गुण-शक्ति में वह किसी से घटकर हो या बढ़कर, साथही उस कृत्य की विज्ञप्ति न करे कि मैंने अमुक व्यक्ति के साथ यह किया, वह किया। अतः कृतज्ञता यदि कहीं कृतघ्नता बनती है तो उसका जिम्मेवार उपकारी अधिक होता है और उपकृत कम। विज्ञप्ति के एक झोंके में धूल उड़ाती हुई कृतज्ञता आँखों से ओझल हो जाती है।

कृतज्ञता न तो प्रशंसा है, न चापलूसी और न चारणवृत्ति। यह तो शुद्ध परोपकार से जगी हृदय की वह आभार-गीली भाव दशा है, जो यदि बदला न माँगा जाए तो न कभी बूढ़ी होती है और न कभी मरती है। यह प्रेम की भाँति तरल है, जो प्राणों को हिल्लोलित कर देती है और श्रद्धा की भाँति दूसरे की महत्ता की स्वीकृति है, जो मन को समर्पण से पिघला देती है। इसका प्रसार अपने शरीर से लेकर सृष्टि पर्यन्त है। यदि आँख खुल जाएँ तो सारा जगत् कृतज्ञता का पाठ पढ़ानेवाला गुरु बन जाता है, परन्तु जिस कोटि का व्यक्ति होता है, उसी के अनुसार कृतज्ञता का भाव और अर्थ बदल जाता है। संकीर्ण वृत्ति के व्यक्ति अपना काम बन जाने के कुछ समय तक तो आभार से बड़े झुके-झुके या अहसानमंद दिखाई देते हैं, लेकिन थोड़े ही दिनों के बाद दूसरे को मिटाकर खुद मियां-मिट्ठू बन जाते हैं। रहीम ने ऐसे लोगों का बड़ा मार्मिक उदाहरण दिया है।

> 'काम परे कुछ और है, काम सरे कुछ और।
> रहिमन भाँवर के परे, नदी सिरावत मौर।।'

यह कृतघ्नता है, एक अर्थ में कि जिसके कारण हमारे एकाकी अँधेरे जीवन में दीपावली का पदार्पण हुआ, उसको हम नदी में बहा आते हैं और फिर कभी जीवन भर उसका स्मरण भी नहीं करते; लेकिन एक दूसरे अर्थ में इस प्रथा के पीछे बड़ा महान् संदेश भी छिपा है, जो आध्यात्मिक क्षेत्र में या ऐकेश्वरवाद की ओर ले जाकर ' एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाइ' कथन को सार्थक करता है तो दूसरी ओर हमारे परिवार और समाज में नारी जाति पर पुरुष के भ्रष्टाचार, शोषण और बहुपत्नी या बहुविवाह प्रथा पर मानसिक प्रतिबंध

लगाकर उसे परिवार में आदर और अविभाज्य प्रेम प्रदान करता है। एक पत्नी के रहते हुए अथवा जीवन में हम, इस संबंध में, एक के ही बनकर रहें–मन से, वचन से और कर्म से, इस लक्ष्य को दृष्टि में रखकर ही सेहरे को गंगा में सदा के लिए विसर्जित कर देने की प्रथा बनायी गयी होगी। वैसे भी जिस चीज को हम गंगा में बहा देते हैं तो वह प्रतिज्ञा हो जाती है कि जीवन में फिर कभी इसका इस्तेमाल नहीं करेंगे। इसीलिए इसे कानून का दर्जा भी दे दिया गया है कि एक पत्नी के रहते हुए पुरुष सेहरा बाँध कर दूसरा विवाह नहीं कर सकता, यदि करता है तो यह दंडनीय अपराध है। अब, इस स्थिति में, जिस सेहरे ने हमारा काम बनाया, उसे सदा के लिए भुला देना कृतघ्नता नहीं,परम-कृतज्ञता है। इस कृतज्ञता से अधिक गृहस्थ जीवन को सुखी बनानेवाला कोई और मंत्र नहीं। अत: ग्राहय के लिए ही आभारी होना कृतज्ञता नहीं है, त्याज्य का शुक्रिया अदा करना भी कृतज्ञता है; सत् के लिए धन्य होना ही कृतज्ञता नहीं है, असत् से भी कृत-कृत्य होना कृतज्ञता है, क्योंकि प्रतिकूल समझ कर जिसे हम हटा देते हैं, उसमें वह चीज छिपी रहती है, जो हमें अनुकूल में छिपी चीज की अपेक्षा अधिक ऊँचाई पर ले जाती है। संदेह पर यदि संदेह हो जाए, तो वह श्रद्धा में अधिष्ठित कर देता है अत: संदेह भी कृतज्ञता का पात्र है। क्रोध पर यदि क्रोध आने लगे तो वह हमें करुणा में ले जाता है अत: क्रोध भी कृतज्ञता का अधिकारी है। लेकिन तब तक नहीं, जब तक कि हृदय का आमूल रूपान्तरण न हो जाए।

अत: अनुकूल के कृतज्ञ तो सभी होते हैं, बात तो तब है, जब प्रतिकूल के आभारी हों। हम जीत के कृतज्ञ हों या न हों क्योंकि वह हमें अंधा भी कर सकती है लेकिन हम हार के कृतज्ञ अवश्य हों क्योंकि वह हमें सदा उद्बुद्ध रखेगी। हम मित्र के कृतज्ञ हों या नहीं क्योंकि वह कभी भी शत्रु बन सकता है लेकिन हम शत्रु के कृतज्ञ अवश्य हों क्योंकि वह हमें सदा जगाता रहेगा। हम प्रशंसक के कृतज्ञ हों या न हों क्योंकि वह हमारे दुर्गुणों को निकलने नहीं देगा, लेकिन हम निन्दक के कृतज्ञ अवश्य हों क्योंकि बिना साबुन पानी के वह हमारे स्वभाव को निर्मल करदेगा। हम देनेवाले के अहसानमंद हों या न हों क्योंकि वह हमें आलसी और अकर्मण्य भी बना सकता है लेकिन हम लेनेवाले के कृतज्ञ अवश्य बनें क्योंकि वह सिखाता है कि हम भी किसी के काम आ सकते हैं। हम दूसरों के नहीं बन पाते तो कोई बात नहीं, हम पूरी तरह अपने ही बन जाएँ तो इससे बड़ी और कोई बात नहीं क्योंकि दूसरों की जिन्दगी का सुराग अपने आप में ही डूब कर मिल सकता है। ईश्वरीय संदेश है कि :–

'अपने मन में डूबकर पा जा सुरागे जिन्दगी,
तू अगर मेरा नहीं बनता, न बन, अपना तो बन।'

लेकिन दुख इस बात का है कि हम दूसरों के इसीलिए नहीं हो पाते कि कभी अपने नहीं बने, अपने आपको कभी धन्यवाद नहीं दिया।

कृतज्ञता का पाठ पढ़ानेवाला न कोई अध्यापक होता है और न ही कोई इसका विद्यालय है। न तो भाषण से कृतज्ञता पैदा की जा सकती है और न गीत कहानियाँ सुनाकर, अपितु इसके लिए तो 'आप ही गोया मुदर्रिस आप ही मकतब हैं हम।' संसार में दो ही केन्द्र हैं, ज़िनपर खड़े होकर हम परख सकते हैं कि हमारे भीतर कृतज्ञता का भाव है अथवा नहीं? वे दो केन्द्र हैं –एक अपना शरीर और दूसरा अपना परिवेश। यदि हम अपने शरीर के प्रति सच्चे अर्थों में कृतज्ञता से भर जाएँ तो स्रष्टा के प्रति, माँ-बाप के प्रति, पत्नी बच्चों के प्रति और सारी मानव जाति के प्रति प्रेम, सौहार्द से भर जाएँ क्योंकि यह शरीर हमारे लिए

अद्भुत वरदान है, एक चमत्कार है। यह हमारे द्वारा तो बनाया नहीं गया। विधाता ने स्वयं अपने रहने का मन्दिर बनाया है, जिसमें ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। इसका एक-एक अंग करोड़ों-करोड़ों कोहिनूरों की कीमत से अधिक मूल्यवान् है। कल्पवृक्ष है यह शरीर, जिसकी हर डाल पर चिन्तामणियों के फूल खिलते हैं और कामधेनु इसके फल खाकर देवताओं को दूध पिलाती है—तभी तो वे स्वर्ग को छोड़कर मनुष्य होने के लिए तड़पते हैं और एक हम हैं कि हमें पता ही नहीं है कि हमारा शरीर भी है। इसीलिए हम इससे कुकर्म,अधर्म करते रहते हैं।

दुनिया में अब तक, ऐसी कोई प्रयोगशाला विकसित नहीं हो पायी, जहाँ खून,मांस,हड्डी,वीर्य बनते हों। ईश्वर ने वह प्रयोगशाला हमारा शरीर बनाया है, जहाँ खाया जाता है अन्न और बनते हैं दूध,खून,वीर्य,हड्डी जिसमें छिपता है आकर परमात्मा, बिहार करते हैं विचार, गुनगुनाते हैं भाव,देखती-सोचती है बुद्धि, उड़ता है मन, झूमता है हृदय और रंग भरती है कल्पना! एक नियामत है- अनमोल रत्नों का खजाना है यह शरीर, जिसके मर्म का उद्घाटन करते हुए ज़ायसी कहते हैं:

और जो दीन्हेसि रतन अनमोला। ताकर मरम न जाने भोला।।
दीन्हेसि रसना औ रस भोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहँसै जोगू।।
दीन्हेसि जग देखन कहँ नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनै कहँ बैना।।
दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि कर पल्लौ बर बाहाँ।।
दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सो जानइ जेहि दीन्हेसि नाहीं।।
जोबन मरम जान पै बूढ़ा। मिला न तरुनापा जग ढूँढ़ा।।

आत्मा-परमात्मा की बात तो बहुत दूर है और सुनी-सुनायी है हम अपने अंग प्रत्यंगों के विषय में भी नहीं जानते। अपने शरीर का पोषण और संरक्षण तो सभी करते हैं, लेकिन शरीर के प्रति कृतज्ञता तब तक नहीं कही जा सकती, जब तक कि हमारी वैसी ही पोषण और संरक्षण की भावना दूसरों के शरीरों के प्रति न हो। हमें अपना शरीर तो प्रिय लगे और दूसरों को मारने के मंसूबे बनाएँ; अपने आप को बचाकर दूसरों पर कीचड़ उछालें तो अभी हम कृतज्ञता से कोसों दूर हैं।

हमारा समूचा शरीर विध्वंसक भी है और सर्जक भी है। अब यह हमारी मर्जी पर है कि हम इसका सदुपयोग करने है अथवा दुरुपयोग ! अत: कृतज्ञता का सबसे पहला पाठ हमें अपने शरीर से ही मिल सकता है यदि हम इसकी विधायक उपयोगिता को समझ जाएँ, फिर दूसरों का शरीर भी अपना ही शरीर हो जाएगा और विश्व से चोट, आघात, अपशब्द, घ्रणा, हत्या, आतंक, चोरी, लूट, बेईमानी आदि इस आत्म-कृतज्ञता की झाड़ू से साफ हो जाएँगे।

जो लोग शरीर की दार्शनिक निन्दा करते हैं और जो लोग शरीर का दुष्कर्मों के लिए पोषण करते हैं, उनके शरीर के एक पक्ष, विधायकता, को लकवा मार जाता है। वे कितने ही विद्वान् और शक्तिशाली हो जाएँ, लेकिन कृतघ्नता के दोष से मुक्त नहीं हो सकते।

कृतज्ञता की उद्भावना का दूसरा केन्द्र हमारा परिवेश है, जिसमें सारी प्रकृति समाविष्ट हो जाती है। हमारे भाव की आँख शायद ही कभी विस्मय विमुग्घ होती है, प्रकृति के इस करिश्मा को देखकर, जहाँ हर पल जीवन बरस रहा है, जीवन के वरदान बरस रहें है।

जिस घरती को हम चौबीस घंटे अपने पैरों से रौंदते रहते हैं, क्या कभी एक पल के लिए हमने सोचा है कि यह क्या है और हमारे लिए क्या करती है? यह घरती जननियों

की जननी है। हमारी जन्म दात्री तो दो-तीन साल तक ही अपना दूध पिलाती और गोद खिलाती है, लेकिन यह धरती माँ जन्म से लेकर मृत्यु तक अपना स्तन्य पान कराती है, और हर समय अपने सीने पर ही रखती है। हम इसके लिए क्या कर रहे हैं? हम इस पर थूक रहे हैं, मलमूत्र विसर्जित कर रहे हैं; वृक्षों को नहीं काट रहे हैं, इसके बालों को नोंच रहे हैं, आँखों को फोड़ रहे हैं, तरह -तरह से प्रदूषित कर रहे हैं। और यह बेचारी चुपचाप सहन किये चली जा रही है। आखिर ग़लत कैसे हो सकता है यह वाक्य

'कुपुत्रो जायेत्, क्वचिदपि कुमाता न भवति।'

हम इसको बाँट रहे हैं। इसके सीने में खूँटा ठोक रहे हैं कि यह तेरी है, यह मेरी है। इसके पीछे युद्ध हैं। बारूद का ढेर लगा रहे हैं, इसकी छाती पर। अपनी निकृष्ट औलाद के कुकर्मों पर इसके आँसू बहते हैं तो बाढ़ आ जाती है; अनुताप होता है तो सूखा पड़ जाता है; वेदना असह्य होती है तो हृदय फटता है और भूकम्प आ जाते हैं। क्या कभी इसके लिए भी चार आँसू हमारी आँख से टपके हैं? यदि इसके कृतज्ञ नहीं तो हम सबसे बड़े कृतघ्न हैं। इसीलिए तो एक शायर ने बड़ा गहरा ताना मारा है

'न है खौफ़ ऐ खुदा हमें तेरे आसमाँ से
ऐ जमीं हम तेरे आदमी से डरते हैं।'

कितने सच्चे, ईमानदार और भोले थे वे ऋषि, जिन्होनें हमें वास्तविक ईश्वर के दर्शन कराने का मार्ग खोला था, लेकिन आदमी के दुश्मन इस आदमी ने हमारी ईश्वर को देखने वाली आँख पर पट्टी बाँध कर हमें कंकड़ पत्थरों के मन्दिर मस्जिदों में लाकर खड़ा कर दिया और हम दिन पर दिन ईश्वर में रहकर भी ईश्वर से दूर होते चले गये। मेरे ख्याल से जिसके बिना हम एक पल जीवित न रह सकें, वही ईश्वर हो सकता है। कौन है ऐसा ईश्वर, जिसके बिना हम एक पल नहीं रह सकते? क्या अवतारों या पैगम्बरों की वह जमात, जिनके नाम पर इनके ठेकेदार हमें रोज लूट रहे हैं और हम इनके कृतज्ञ होकर रोज लुटते हैं? क्या किताबों में लिखे हुए वे जनता जनार्दन जो शोषण का शिकार होती हुई जनता की पुकार सुनकर अपने कानों में तेल डालकर आराम से क़हीं छिपे पड़े रहते हैं? नहीं। ईश्वर ये नहीं हैं।

असली ईश्वर है, जल जो सूख जाए तो सब कुछ उजड़ जाए। हम कितने कृतज्ञ हैं इस जल के? कि न हो तो जलजला आ जाए। असली ईश्वर है हवा, जो न रहे तो धरती चन्द्रमा बन जाए और सारी सृष्टि हवा हो जाए। हम कितनी आरती उतारते हैं नाना प्रकार की द्रवित गैसों, धूओं और ध्वनियों से इस पवनदेव की– झाँककर देखें अपने मन में फिर हम कृतज्ञ हैं अथवा कृतघ्न, किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। असली ईश्वर है आग जो न जागे तो सब कुछ राख हो जाए। अपनी स्वार्थ सिद्धि के अतिरिक्त कभी इस अग्निदेव को सच्चे रूप में यादकर, हमारा हृदय कृतज्ञता से पिघला है? असली ईश्वर है सूर्य, जो हमारे शरीर, मन, प्राण, बुद्धि सभी का पोषण कर रहा है; ज्ञान दे रहा है, उर्जा दे रहा है। लेकिन हम हैं कि दिन पर दिन विषैले वातावरण से, ओजोन पर्त को फाड़कर इसे क्रुद्ध करने की कोशिश में लगे हैं। यह हमारी कृतज्ञ मानवता है !

हमारा जीव (प्राण) सूर्य से है;प्रकृति की हरियाली सूर्य से है; सर्दी, गर्मी, बरसात के मौसम सूर्य से हैं; पल, क्षण, घड़ी, घंटे, दिन, पक्ष, महीने, वर्ष सब सूर्य से हैं। यह उगता है तो चेतना, निर्भीकता, कर्मण्यता उतर आती है और यह डूबता है तो आलस्य, भय, दुराचार फैल जाते हैं। यही एकमात्र ऐसा साक्षी है, जिसने सृष्टि के पहले दिन से आज तक जगत्

की हर चीज को देखा है। हम कृतज्ञ हे! 'सवितुर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्नासुव।'

ये आकाश, चाँद सितारे, ये नदी-पहाड़-झरने, ये अन्न-पेड़-पौधे, यह कुदरती बेमिसाल जन्नत; ये सुहाने मंजर–कौन होगा और इनके अलावा परमेश्वर! इनको देखकर जिनका हृदय गद्‌गद न हुआ, उसके समान कोई कृतघ्न नहीं होगा। कुछ सीखना हो तो प्रकृति सा गुरु कहाँ मिलेगा? जहाँ कोई ईर्ष्या-द्वेष नहीं, जहाँ कोई कपट-स्वार्थ नही; जहाँ कोई भय आतंक नहीं, जहाँ कोई चोरी-बेईमानी नहीं; जहाँ कोई छीना-झपटी नहीं; जहाँ छोटा अपने छोटेपन में झूमता है, जहाँ बड़ा अपने बड़ेपन की छाया फैंक रहा है। जो दे ही रहे हैं लेते नहीं; जो हँस ही रहे हैं- रोते नहीं। हम इन्हें काटते हैं और तोड़ते हैं, ये हमें पार ले जाते हैं और हमारा पोषण करते हैं। कितने कृतज्ञ हैं हम इनके?

कृतज्ञता हृदय की तरल भावुकता है; उपकृत मन की सघन संवेदना है; अहसानमंद रूह की तकमील इबादत है; रोम-रोम की प्यासी प्रार्थना है; साँस-साँस की कृत-कृत्य उपासना है; धड़कन-धड़कन की पागल रागनी है!

यह कृतज्ञता यदि विकसित होकर पल्लवित होती चली जाए तो अपनी शीतल छाँह से परिवार, समाज, देश और विश्व के आतप-तापों का शमन कर सकती है। इसी के न होने से आज हमारे परिवार टूट रहे हैं; समाज पतित हो रहे हैं; देश विघटित हो रहे हैं। हमारे परिवार की मुख्य धुरी, माँ-बाप के प्रति बच्चे कृतज्ञ नहीं रहे- फलत: जिन्होंने जन्म देकर बच्चों को पालने-पोसने में अपना जीवन दाँव पर लगा दिया, वे बच्चे उनके बुढ़ापे की लकड़ी बनने के बजाय लकड़ी लेकर उन्हें बाहर खदेड़ देते हैं।

पति अपनी पत्नियों के कृतज्ञ नहीं रहे। जो पत्नी अपनी जन्म-भूमि और जनक-जननी को छोड़, एक अनजाने पति के लिए अपना जीवन समर्पित कर देती है। कितने पति हैं, जो अपनी पत्नी के सच्चे कृतज्ञ हैं? गांधी जी ने कहा था कि क्रोध पर वही विजय पा सकता है, जिसे कभी अपनी पत्नी पर क्रोध न आया हो। हम अपना निरीक्षण करके देखें। क्या इस कसौटी पर हम खरे उतरते हैं? कौन से ऐसे भाग्यशाली पति-पत्नी होंगे, जिन्होंने जीवन में दस-बीस बार परस्पर शक-संदेह न किया हो; हत्या, आत्महत्या या निकल जाने की धमकियाँ न दी हों या कलह से खाना-पीना न छोड़ा हो। जो स्त्रियाँ या पुरुष बिगड़ जाते हैं, कुमार्ग पर चलने लगते हैं, उनके बिगड़ने का बहुत कुछ कारण परस्पर कृतज्ञता का अभाव होता है। कृतज्ञता के दो-चार मीठे बोल किसी के भी हृदय पर जादू का असर करते हैं। कृतज्ञता के अभाव से ही दहेज, उत्पीड़न, असमानता, परतंत्रता, आदि नारियों की विडम्बनाएँ पैदा होकर उन्हें हत्या, आत्महत्या के लिए विवश कर देती हैं।

भाई में भाई के प्रति कृतज्ञता न होने से झगड़े, मनमुटाव, अलगाव पैदा होते हैं। पडोसी-पडोसी में कृतज्ञता न होने से चोरी, डकैती, फौजदारी और मनमुटावबाजी होती है। शासकों, नेताओं, अध्यापकों, विद्यार्थियों, व्यापारियों, मजदूरों आदि सबके हृदयों से धीरे-धीरे कृतज्ञता उठती जा रही है। बड़ा छोटे को कुछ नहीं समझता, छोटा बड़े को ठेंगे पर रखता है। जिन्होंने अपना खून बहाकर अपना सर्वस्व त्यागकर देश को आजाद कराया, आज बदले में उन्हें गालियाँ मिल रही हैं, देश को लूटा जारहा है। उनके मजारों से यही आवाज आती है कि –

"जिनके लिए हम मर मिटे, उनका ये हाल है,
ईंटें चुराके ले गये मेरे मजार की।।"

सभ्यता की जड़ें हिल गयी हैं। संस्कृति की चूलें घसक गयी हैं। पाश्चात्य सभ्यता हावी हो गयी है। चारों ओर बेईमानी है, शोषण है, अन्याय है, आतंक है, लूट है, जाति-वर्ग-संघर्ष है। क्या हो गया है इस आदमी को?

कृतज्ञता की जडें उसी के हृदय में गहराई से जमती हैं, जिसके मन में यह धारणा मजबूत हो जाती है कि जो कुछ मैं हूँ या जो कुछ मुझे मिला है अथवा जो कुछ मेरे लिए है, उसमें प्रयास तो मेरा हो सकता है– अहं भाव तो मेरा हो सकता है– लेकिन मेरे द्वारा कुछ नहीं है। इन सबके पीछे जाने किन-किन की कृपा है; न जाने किन-किन का अनुग्रह है; न जाने किन-किन का सहयोग है, तब जाकर मुझे यह वर्तमान मिला है! यही बुनियादी सच्चाई है और यही सच्चाई यदि हमारे गले से नीचे उतर कर हमें स्वीकृति और समर्पण से हिला-हिला डाले, तो ही हम समझें कि हमारे भीतर कृतज्ञता है, इसके विपरीत, जहाँ हमारे भीतर किसी भी मामले में, कर्तापन का या अहंकार का भाव जगा और हमने कुछ बिगाड़ा, कुछ खंडित किया या किसी का दिल भी दुखाया तो हम समझ लें कि हम कृतघ्न हैं। बस, इन्हीं दो बातों के पीछे सारे शुभ और अशुभ, सारा प्रेम और वैमनस्य, सारी शान्ति और उपद्रव बिना बुलाये चले आते हैं।

कृतज्ञता सारी सद्वृत्तियों की आधार-शिला है। जहाँ यह जम गयी, तो उसके ऊपर देह-प्रेम से लेकर देश-प्रेम तक, भाई चारे से लेकर विश्व-बन्धुत्व तक, सत्य से लेकर अहिंसा तक के भव्य और दिव्य भवन खड़े हो जाते हैं; जिन भवनों के प्रांगणों में उदारता और महानता की वाटिका होती है। प्रेम-समर्पण के फूल महकते हैं। स्वागत सत्कार के विहंग चहकते हैं। संवेदनाओं की मनोरम हवाएँ झकोरे देती हैं। और जहाँ कृतघ्नता है, वहाँ अपने आप ही घृणा से लेकर क्रोध तक, वैर से लेकर विध्वंश तक, झूठ से लेकर हिंसा तक, अपमान से लेकर आतंक और हत्याओं तक सारे बदबूदार गटरों के ढक्कन खुल जाते हैं।

यद्यपि कृतज्ञता भी अन्य मनोविकारों की तरह प्रतिक्रिया स्वरूप ही पैदा होती है। जैसे कोई हमारा अहित करता है तो उसके प्रति हमारे मन में क्रोध, घृणा आदि पैदा होते हैं। वैसे ही कोई हमारा हित करता है तो उसके प्रति हमारा मन आभार से भर जाता है। इसके बावजूद भी बहुत गहराई से देखने पर कृतज्ञता ऐसी संवेदनशील भावप्रवणता है, जिसे कर्म की श्रेणी में ही रखा जा सकता है, प्रतिकर्मों में नहीं। अर्थात् कृतज्ञता कर्तव्य है, कर्म है– अधिकार नहीं और प्रतिक्रिया भी नहीं। जहाँ इसे अधिकार समझकर, किसी को जबरन कृतज्ञ बनाने का प्रयास हुआ, वहीं कृतघ्नता सिर उठाने लगती है।

कृतज्ञता, विनम्रता को जगाती है। विनम्रता समर्पण को न्योता देती है। समर्पण सेवा को ओढ कर आता है। सेवा पत्थर को भी पिघला देती है। पत्थर अहंकार का नाम है। कृतज्ञता की आँच से अहंकार पिघलकर भागीरथी का अमृत बन जाता है– और– भागीरथी का अमृत! मुश्किल है, इसकी महिमा का बखान कि जिसकी पार पर पड़े रहना भी पार जाना हैं; जिसे पीना भी पार जाना है; जिसमें नहाना भी पार जाना है; नाम लेना भी पार जाना है और जिसमें डूब जाना भी पार जाना है।

●

३. विनम्रता, पवित्रता और गरीबी

ईसामसीह ने मनुष्य के परम उत्कर्ष के लिए तीन सोपानों की शोध की–पहला सोपान विनम्रता, दूसरा पवित्रता और तीसरा सोपान है आत्मिक गरीबी। इन तीनों के लिए उनके तीन वचन इस प्रकार हैं-'धन्य हैं वे, जो विनम्र हैं, पृथ्वी का राज्य उनका है; धन्य हैं वे, जो पवित्र हैं, स्वर्ग का राज्य उनका है और धन्य हैं वे, जो आत्मा से गरीब हैं-ईश्वर का राज्य उनका है। ये बातें तो बड़ी सरल और सर्वविदित लगती हैं। कोई व्यक्ति ऐसा मिलेगा भी नहीं, जो अपने आप को विनम्र, पवित्र और गरीब न कहता हो; लेकिन कहने का भरोसा क्या? 'हस्ती का शोर तो है मगर ऐतबार क्या?' क्योंकि जो कहा जा रहा है वह तो अक्सर विपरीत की ध्वनि होती है 'कि झूठी खबर किसी की उड़ायी हुई सी है।' और अभिनय में दक्ष इस ढोंगी दुनिया में महा उजड्ड और अहंकारी विनम्रता का मुखौटा लगाये फिरते हैं, पापी पवित्रता का ढोल पीटते हैं और पिछले द्वार से लूटनेवाले हाथ जोड़ कर गरीबी का इज़हार करते फिरते हैं; लेकिन उनकी कथनी वैसे ही करनी नहीं बन पाती जैसे,-

मंजरे तस्वीर दर्दे दिल मिटा सकता नहीं।
आईना पानी तो रखता है, पिला सकता नहीं।।

विनम्रता पहली सीढ़ी है और विनम्रता का अर्थ है, विशेष रूप से झुकने का भाव। किसका झुकना? शरीर का झुकना या मन का झुकना? वाणी से झुकना या स्वभाव का विनम्रता में अधिष्ठित हो जाना? किसके सामने झुकना? बड़ों के सामने झुकना या सबके सामने झुकना? बहुत से प्रश्न खड़े हो गये हैं, जब विनम्रता की बात आयी है सामने! कोई किसी बोझ के कारण ही झुका करता है-वृक्षों पर जब फलों का बोझ हो जाता है तो वे झुक जाते हैं। बादलों में जब पानी का बोझ हो जाता है तो वे झुक जाते हैं। आदमी के सिर पर जब ज्यादा वज़न हो जाता है तो उसका शरीर झुक जाता है। उस पर जब चिन्ताओं, जिम्मेवारियों और मुसीबतों का बोझ होता है तो उसका मन झुक जाता है जब उसको अपना काम-(स्वार्थ) निकालना होता है तो उसकी वाणी झुक जाती है। भय से भी झुकता है आदमी और वासना से भी झुकता है, आदमी। ईर्ष्या, घृणा आदमी को झुकाती नहीं तो टेढ़ा कर देती हैं। क्या सब प्रकार के झुकने को विनम्रता समझा जाए? लेकिन एकाध बोझ ऐसा भी है, जो जितना अधिक बढ़ता जाता है, उतना ही आदमी तनता जाता है और जितना कम होता जाता है, उतना ही आदमी झुकता चला जाता है– वह बोझ है क्रोध का और अहंकार का !

अहंकार और विनम्रता में छत्तीस का संबंध है। जहाँ अहंकार है, वहाँ विनम्रता नहीं होती, विनम्रता की बातें हो सकती हैं। वैसे अहंकार मनुष्य के अन्तःकरण का चौथा हिस्सा है। उसके बिना मनुष्य, मनुष्य नहीं है, पशु हो सकता है या भगवान् हो सकता है; लेकिन मनुष्य को अपनी हर बात को कहने से पहले और हर क्रिया को करने से पहले यदि इतना ध्यान आ जाए कि कहीं इसके पीछे मेरा कोई अहंकार तो नहीं और यह सोचकर एक हिचक, एक झुकाव आ जाए तो वह झुकाव विनम्रता बन जाता है। अतः झुका हुआ अहंकार विनम्रता में बदल जाता है। अथवा अहंकार जब ज्ञान से बोझिल होकर पश्चात्ताप की आग में सदा के लिए पिघल जाता है, तो उसका यह पिघला हुआ तरल रूप विनम्रता बन जाता है। इसके पूर्व, तल पर तो अहंकार जमा हो और ऊपर-ऊपर विनम्रता की बातें चलती हों, तो वहाँ

वह विनय नहीं अविनय का झाग है, जो समय और परिस्थिति-सापेक्ष है। समय और परिस्थितियाँ बदलेंगी और वह झाग किसी झोंके के साथ खो जाएगा। विनम्रता गूलर का फूल ही बनी रहेगी और अहंकार सेंहुड़ के काँटे की तरह मरने के बाद भी मारता रहेगा। छद्म अहंकार अक्सर विनम्रता का फ़ेस-मास्क लगाकर बाहर निकलता है। बड़ी विनम्र बातें करते हैं अहंकारी भी।

अहंकार निचुड़ी विनम्रता के लिए फिर जरूरी नहीं है कि उसमें झुकाव हो ही, वह अकड़ी हुई भी हो सकती है। क्योंकि यदि अभिमान में अकड़ है तो स्वाभिमान में भी अपनी अकड़ है; लेकिन एक ही अकड़ पत्थर की सिला की अकड़ है तो दूसरे की अकड़ बर्फ की सिल्ली की अकड़ है। स्वाभिमान विनम्रता का राखी बंध भाई है और अभिमान, दुर्योधन जैसा चचेरा देवर। स्वाभिमान में सत्य और धर्म के लिए अकड़ होती है और अभिमान झूठ के लिए तना रहता है।

तुलसीदास ने लिखा है, 'सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।' यह विनम्रता की पराकाष्ठा है। अर्थात् सबको अपने आप से महान् और पूज्य मानना, जैसे संसार की हर स्त्री सीता जैसी माँ हो और हर पुरुष राम जैसा पिता हो और तब सबके लिए आदर से झुक जाना सच्ची विनम्रता की उपलब्धि है। तुलसीदास ने एक स्थान पर यह भी लिखा है कि सठों के सामने विनय और कुटिलों के सामने प्रेम प्रदर्शित करना 'ऊसर बीज बये फल जथा' है। अब तो यहाँ दुविधा खड़ी हो जाती है क्योंकि एक ओर वे संसार के हर प्राणी को प्रणाम (विनय) करने को कहते हैं और दूसरी ओर सठ के सामने न झुकने के लिए। तो क्या हम विनम्रता छोड़ अविनम्र बन जाएँ? और जिस विनम्रता को कभी भी बटन दबा कर अविनम्रता बना दिया जाए तो वह विनम्रता ही नहीं थी, वह लिपी-पुती अविनम्रता ही थी। तो यहाँ क्या समझें?

वस्तुत: फूल कितने ही काँटों में फँसा रहे, वह काँटा नहीं बन सकता-ऐसे ही सच्चे विनम्र का कितने ही दुष्टों से पाला पड़ जाए, वह भीतर से अविनम्र नहीं हो सकता। हाँ उसकी विनम्रता को कहीं कायरता न समझ लिया जाए, इसलिए उसे अविनम्रता का अभिनय करना पड़ता है। अविनम्रता को एक झूठे हथियार के रूप में इस्तेमाल करना पड़ता है, सठ को सिर्फ डरा-धमका कर सही रास्ते पर लाने के लिए। अत: यह अविनम्रता अँधेरे में बाँस की बन्दूक से अधिक नहीं है, जो मारने का नहीं, सुधारने का काम करती है।

विनम्रता में बहुत कुछ श्रद्धा की झाँई मारती है अत: उसे श्रद्धा की छोटी बहिन कहा जा सकता है। श्रद्धा के लिए सत्-असत् का विवेक आवश्यक है जबकि विनम्रता के लिए सरलता और भोलापन। भले ही दुनिया उसे बेवकूफी, दब्बूपन और कमजोरी बताये, लेकिन अन्ततोगत्वा विनम्रता भोली 'गाम गहेलरी' जैसी और श्रद्धा 'चतुर नागरि' जैसी होती है। श्रद्धा अपनी वरमाला कभी भी किसी ऐरे-गैरे के गले में नहीं डालती, जबकि विनम्रता को जिस खूँटे से बाँध दिया जाए, उसी को अपना भाग्य समझ कर अंगीकार कर लेती है। ज्ञान की आँख न हो तो श्रद्धा किसी खाई में गिर कर अपनी जान झोंक सकती है लेकिन विनम्रता को इस आँख की आवश्यकता नहीं और खाई में गिर कर भी वह उसे अपने प्रिय की गली समझ कर नाच सकती है चाहे परिणाम कुछ भी हो कि

बेखुदी में हम तो तेरा दर समझ कर झुक गये।
अब खुदा मालूम वो काबा था या बुतखाना था।।

समवेदता और दया विनम्रता के स्वरूप का गठन कर उसे कृपा की धरती पर लेजाकर खड़ी कर देती हैं। विनम्रता हृदय की तर्कहीन अवस्था है, चालाकी रहित भावदशा है, धूर्तता और छल-कपटहीन सहज भोलापन है, व्यक्तित्व का भूषण है, भक्ति की प्रथम भूमिका है,ज्ञान का प्रवेश द्वार है, परमार्थ की प्रेरणा है, समर्पण का पुरश्चरण है, सेवा की उद्भाविका शक्ति है, प्रेम की मूक भाषा है, अहिंसा का ताबीज है, प्रतिकूल बात सुनकर भी निरुद्विग्न खामोशी है, ईश्वर का सबसे प्यारा प्रसाद है। विनम्र व्यक्ति पर ईश्वर की अयाचित कृपा बरसती है और जीसस कहते हैं कि पृथ्वी का राज्य उसका हो जाता है। कबीर कहते हैं कि ईश्वर चतुराई पर नहीं, भोलेपन पर रीझता है 'चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन के भाइ।' इसी का समर्थन करते हुए एक शायर ने भी कहा–

तेरी मंजिल पे पहुँचना कोई आसान न था।
सरहदे अक्ल से गुजरे तो यहाँ तक पहुँचे।।

हार्दिक विनम्रता सहिष्णुता का भी पर्याय है। विनम्र व्यक्ति जितना मित्र के लिए भाव भरा होता है उतना ही शत्रु के लिए भी। असल में तो उसके लिए कोई मित्र और शत्रु होता ही नहीं। वह इतना सरल होता है कि जिसने जो कहा, वही मान लिया। न कोई चुनाव, न कोई बचाव। न कोई अपनी मर्जी और न विशेष के लिए कोई अर्ज़ी। न कोई प्रतिक्रिया, न कोई अनुक्रिया। निषेध की भाषा वह नहीं जानता, इसलिए यह स्वार्थी दुनिया उसे बेगार का मुद्दा बना लेती है। अपने सुख-चैन का ख़याल न कर वह सबके साथ हो लेता है। स्वार्थ को वह पहचानता नहीं; कपट को वह जानता नहीं; धोखे को वह बूझता नहीं–इसीलिए लूटा भी जा सकता है, और ठगा भी जाता है। यह लुटना और ठगा जाना ही मौलिक विनम्रता और ओढ़ी हुई विनम्रता के बीच विभाजक रेखा खींच देता है। धोखा खानेवाला भोला और धोखा देनेवाला कुटिल होता है। विनम्रता का अभिनय करनेवाले व्यक्ति में भीतर काटा-छाँटी, चालाकी और कपट भरा रहता है। वह मौका परस्त और स्वार्थी होता है। बाहर से विनम्र दीख कर वह भीतर तना होता है। बाहर से बड़ा भोला दिखायी देता है, भीतर से ठग होता है। बाहर से बड़ा सरल-मधुर दिखायी देता है पर भीतर से बड़ा जटिल काइयाँ होता है; जबकि मौलिक रूप से विनम्र व्यक्ति बाहर से अकड़ा दीख कर भी भीतर से उस फूल की तरह होता है, जो सबके लिए समान रूप से अपनी गंध उड़ाता है। झुका होकर भी उस अंजलि के समान होता है, जिसमें अपने आप आकर पानी भर जाता है। ठहरा और तना होकर भी उस वृक्ष के समान होता है, जिसके फलों और छाया के लिए जाने-अनजाने लोग उसके पास आ जाते हैं।

ऐसे विनम्र व्यक्ति का अगला कदम पवित्रता नाम की दूसरी सीढ़ी पर पड़ता है। जैसे बिना नहाये आलस्य नहीं जाता, वैसे ही बिना विनम्र हुए मन की अपवत्रिता नहीं जाती। बाहर का नहाना-धोना, लिपाई-पुताई, झाडू-पोंछा, इस क्षेत्र में पवित्रता नहीं है। यहाँ पवित्रता से तात्पर्य है मन, चित्त, बुद्धि और आत्मा से मैल की सारी पपड़ियों का उतरकर गिर जाना। ये पपड़ियाँ हैं– काम की, क्रोध की, भय की, लोभ की, मोह की और अहंकार आदि की। अर्थात् पवित्र वही है जिसमें अहंकार का दाग नहीं और बाहर के दाग धब्बे धोने से कोई पवित्र नहीं होता। वैसे अहंकार तो मिटता नहीं, उसका पूरा ज्ञान ही उसे निरहंकार बना देता है। पवित्र वही है, जिस पर क्रोध की कीचड़ नहीं जमती और बाहर के कीचड़-काँटे से बचे रहना कोई पवित्रता नहीं है। वैसे क्रोध का नाश नहीं होता–उसके आने पर जाग

जाना ही अक्रोध बन जाता है। पवित्र वही है कि भय की आँधी ने जिसकी आँखों को भींचकर भीतर नहीं छिपा दिया और बाहर के धूल-धवास से बचकर कोई पवित्र नहीं होता। वैसे भय नष्ट नहीं होता, उससे न भागना ही अभय का परिणाम लाता है। पवित्र वही है जिसकी आत्मा के वसन पर काम और लोभ की चीकट सिलवटें नहीं पड़तीं, बाहर के साबुन और 'प्रैस' से पवित्रता नहीं होती। वैसे काम और लोभ कभी मिट नहीं सकते, इनका रुख बदल दिया जाए तो राम तक पहुँचने के सोपान बन जाते हैं। तुलसीदास ने इनका रुख बदलकर कहा था :–

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभी के जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।।

ऐसा पवित्र व्यक्ति राम को कैसे प्रिय न लगे? स्वर्ग उसके निहोरे करता फिरता है। ईसामसीह कहते हैं कि वह स्वर्ग का अधिपति हो जाता है।

इस प्रकार विनम्रता पवित्रता की ओर ले जाती है और पवित्रता आत्मिक गरीबी की ओर। ईसामसीह का तीसरा वचन है 'धन्य हैं वे, जो आत्मिक गरीब हैं ईश्वर का राज्य उनका है।' कैसी है यह गरीबी, जो ईश्वर के राज्य का स्वामी बना देती है? गरीब तो बेचारा रोटी कपड़ा के लिए भी तरस-तरस कर मर जाता है। उसके सपनों में तो सदा धन, पद, प्रतिष्ठा घूमते रहते हैं। वह तृष्णाओं के राज्य का स्वामी तो हो जाता है, लेकिन ईश्वर के राज्य का नहीं, क्योंकि तृष्णा ऐसी चुम्बक है, जो संसार रूपी लोहे को ही पकड़ती है, ईश्वर रूपी सोने को नहीं। फिर जीसस किस गरीबी की ओर इशारा करते हैं?

यह गरीबी है, संतृप्त होने के बाद इच्छाओं, कामनाओं, वासनाओं और तृष्णाओं का निष्प्रभावी हो जाना कि बस सब कुछ मिल गया, अब कुछ पाने को शेष नहीं; सब कुछ देख लिया, अब कुछ देखने को बचा नहीं; सब कुछ भोग लिया; अब कुछ भी बाक़ी नहीं न ग्रहण की चाह न छोड़ने की आरज़ू! न इन्तजार, न तमन्ना। यहाँ तक कि इच्छाओं को छोड़ने की भी इच्छा न रहे, क्योंकि जिसे छोड़ने की इच्छा है, वह अभी छूटा ही कहाँ?–

बाकी है अभी तर्के तमन्ना की आरज़ू।
कैसे कहूँ कि कोई तमन्ना नहीं मुझे।।

यह वह गरीबी है कि धन हो या न हो, कोई चाह नहीं। पद मिले या न मिले, कोई दौड़ नहीं। प्रतिष्ठा हो या न हो, कोई तड़प नहीं। दुख हो या न हो, कोई आह नहीं। सुख रहे न रहे, कोई वाह नहीं। 'दुनिया में हूँ दुनिया का तलबगार नहीं हूँ। बाजार से गुजरा हूँ, खरीदार नहीं हूँ।' और इतनी चाह है कि कोई चाह ही नहीं।

यह वह गरीबी है, जो बुद्ध-महावीर की तरह अमीर होने के बाद ही पैदा होती है। यह वह भूख है, जो पेट भर जाने के बाद ही लगती है। यह वह प्यास है, जो पीने के बाद तड़पाती है– या कि पीने की सीमा लाँघ जाना ही, न पीना हो जाता है:

तर्के मय ही इसे समझना शेख,
इतनी पी है कि पी नहीं जाती।।

यह वह गरीबी है कि भीतर कुछ बचा ही नहीं, सब कुछ खो गया। अहंकार खो गया, जिससे मेरा-तेरा पैदा होता है। क्रोध खो गया, जिससे मित्र-शत्रु पैदा होते हैं। लोभ खो गया, जिससे धन, जमीन, पर-प्रतिष्ठा आदमी को धनवान् बनाते हैं। काम खो गया, जिससे स्त्री-पुत्र प्राप्त होते हैं। सांसारिक दृष्टि से अमीर बनाने वाली चीजें यही हैं; लेकिन

ईसामसीह के अनुसार सांसारिक अमीर महा दरिद्र हैं। वे कहते भी हैं कि चाहे ऊँट सुई के छेद में घुस जाए लेकिन ईश्वर के राज्य में धनवान् का प्रवेश नहीं हो सकता। क्योंकि सबकुछ होने पर भी अभाव उसे दौड़ाता रहता है और अभाव का अनुभव ही सांसारिक गरीबी है।

अत: सांसारिक अमीर तो सबकुछ पाकर सबकुछ खो देता है, लेकिन यह आत्मिक गरीब सबकुछ खोकर ही सब पाता है। जो पाने की चाह में खो रहा है, उसे कुछ नहीं मिलना है और जो खोने को ही खो रहा है बल्कि खो भी नहीं रहा है, अपितु सब निस्सार है, इसीलिए साँप की केंचुली (पुरानी) की तरह उसके आगे बढ़ते-बढ़ते सब पीछे छूटा जा रहा है–लेकिन उसे बिना चाहे फिर नया मिल रहा होता है और उसे पता भी नहीं चलता कि नयी केंचुली फिर उसे लपेट लेती है। अत: जीसस की परिभाषा में सांसारिक पदार्थों से हीन व्यक्ति गरीब नहीं है। गरीब (आत्मिक) वह है कि जिसके लिए सांसारिक भोग बेकार साबित होकर छूट गये। जिसकी इच्छाएँ, कामनाएँ, वासनाएँ विवेक के भाड़ में अन्न के दानों की तरह भुन गयीं। वही शाहंशाह है। वही ईश्वर के राज्य का मालिक है। कबीर का भी यही अनुभव था –

चाह गयी चिन्ता मिटी मनुआ बे परवाह
जिनको कछू न चाहिए सो ही साहंसाह।।

और एक शायर ने भी यही कहा –

है हसूले आरज़ू का राज़ तर्के आरज़ू।
मैंने दुनिया छोड़ दी तो मिल गयी दुनिया मुझे।।

सब कुछ होते हुए या कुछ भी पास न होते हुए, जब कोई इच्छा ही नहो तो इसका अर्थ इच्छा का पूरा हो जाना है। दुनिया में रहते हुए जब उसका वास्तविक अर्थ समझ में आजाए और फिर दुनियादारी बाँध न पाये तो एक नयी दुनिया से मिलन होता है।



४. गंभीरता

गंभीरता शब्द सागर, कूआँ, नदी और ज़मीन की गहराई का भी द्योतक है और यह चिन्ता, निराशा, निरुत्साह, भय और पराजय की मानसिकता को भी व्यंजित करता है। इससे आदमी की विचारमग्नता और एकाग्रता का भी परिचय मिलता है और गम्भीरता के नीचे आदमी का छल, दम्भ, पाखंड तथा अहंकार भी छिपा रहता है। शक, शोक, सन्देह की स्थिति में भी गम्भीरता घेर लेती है और इससे अपने अज्ञान और क्षुद्रता को छिपाकर झूठे बड़प्पन को जाहिर करने की चालाकी भी चमकती है। मनोरंजन और शिष्टाचार में गंभीरता अवांछनीय है और शोकाकुल वातावरण में वांछनीय। प्रेम में गंभीरता मनहूसियत कही जाती है और निरंतर अत्याचार सहन करते जाने पर गंभीर बने रहना कायरता है। लवारों के बीच गंभीरता साध लेना ज्ञान का लक्षण है। छोटों के सामने अभिमान का प्रदर्शन है और बड़ों के सामने सम्मान का निदर्शन है। आपत्ति काल में यह निराशा, उदासी या हताशा है और भूल हो जाने पर पश्चात्ताप भरी उद्विग्नता। कहने का तात्पर्य यह कि गंभीरता कोई मनोविकार नहीं, अपितु सारे दूषित भावों, विचारों और प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं की सामूहिक परिणति है, जो मन को झकझोर कर तन को सुन्न कर देती है। यह एक मानसिक बोझ है, जिससे दब कर मुसकान मर जाती है, आनन्द कुचल जाता है।

गंभीरता सहज,स्वाभाविक भाव नहीं,–परिस्थितिजन्य आरोपित अनुभाव है। यह बाहर से चुप्पी का विशेष तेवर लिये हुए और भीतर से अशान्त रखनेवाला ऐसा विकार है, जो रोग से , समस्या से, अभिमान से, असफलता से, निन्दा से, शत्रुता से, शक, सन्देह, शोक, काम आदि के उभार से अथवा अपनी कलई खुल जाने आदि कारणों से पैदा होता है। जिसकी वजह से आदमी लदा-लदा सा, दबा-दबा सा, खोया–खोया सा, थका–थका सा और लुटा-लुटा सा दिखायी देता है।

मनुष्य की गंभीरता एक आधि है, मानसिक बीमारी ! कुछ हिंसक जानवरों में जो एकाग्रता होती है, वही मनुष्य की गंभीरता है। जानवरों की एकाग्रता घातक होती है और मनुष्य की गंभीरता खतरनाक। गंभीरता से कभी भी विध्वंस का विस्फोट हो सकता है। आत्महन्ता तो वह है ही। अक्सर एकाग्रता, गंभीरता जैसी और गंभीरता एकाग्रता जैसी लगती है लेकिन इनके गुण–धर्मों में बहुत अन्तर है। जब शिकारी शिकार की घात में अचंचल होकर चुप्पी साध जाता है, जब बिल्ली चूहे को पकड़ने से पहले पंजे जमा कर थिर हो जाती है,और चीता अपने शिकार को दबोचने से पहले टकटकी लगा कर साँसों को भी साधकर 'ल्हौक' जाता है तब वह इन जानवरों की एकाग्रता है। जाहिर है कि जानवरों की इस गंभीरताभरी एकाग्रता में हिंसा और हत्या से उत्प्रेरित–आक्रमण की तैयारी है (केवल मनुष्य की दृष्टि से, अन्यथा जानवर क्या जानें कि हिंसा और हत्या भी कोई पाप है? इनके लिए तो यही पुण्य है, बात यह है कि जानवरों की यह जो एकाग्रता है, वही मनुष्य की कुछ–कुछ गंभीरता है। भले ही वह हिंसा, हत्या या आक्रमण न करे, लेकिन उसका मन गंभीरता की स्थिति में अशान्त, अराजक और विघटनकारी तत्त्वों से भरा होता है। अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिणति होती अवश्य है,–चाहे भीतर हो चाहे बाहर हो! कहने का तात्पर्य यह कि भीतर एक भूचाल को छिपाये हुए, बाहर गुम्माटे और सन्नाटे की स्थिति मनुष्य की गंभीरता है।

एकाग्रता अलग भाव-स्थिति है। तन्मयता भी गंभीरता और एकाग्रता के परिवार की सदस्या है। इन तीनों की भिन्नताओं को आगे देखा जाएगा, फिलहाल गंभीरता के कुछ कारणों और परिणामों पर विचार करलें।

भीतर का आक्रोश जब तक बाहर उदग्र क्रोध का रूप नहीं ले लेता, तब तक आदमी गंभीर बना घुटता रहता है और जब, क्रोध का विस्फोट हुआ तो उस पूर्व गंभीरता में से विवाद, मारपीट, हत्या, अधर्म आदि पैदा होते हैं। लोभ जब तक लाभ या हानि नहीं बनता, तब तक आदमी गिद्धदृष्टि लगाये गंभीर बना, लपकने की घात में, चुप्पी साधे रहता है और जहाँ जरा सा लाभ या हानि हुई कि उस बगुलाधर्मी गंभीरता से लपक–झपक, लूट-खसोट, चोरी-बेईमानी निकल पड़ती हैं। प्रेम जब तक व्यक्त या मुखर नहीं होता, तब तक वह दोनों पक्षों को गंभीर बनाकर सपनों की दुनिया में उड़ाता रहता है, पवित्रता की दुहाई भी देता रहता है। पर जैसे ही वह व्यक्त या मुखर हुआ अथवा जैसे ही उसमें दूरियाँ मिटीं, कि फिर उस गंभीरता में से वासना, घृणा और आक्षेप फैलने लगते हैं। विचार जब तक अभिव्यक्ति का रूप नहीं लेते, तब तक वे भीतर से उद्वेलित और बाहर से गंभीर बनाये रखते हैं, लेकिन अभिव्यक्ति पाकर उस गंभीरता से शुभ भी हो सकता है और अशुभ भी। शक–सन्देह और निन्दा जब तक प्रकट रूप में आमने–सामने नहीं खुलते, तब तक आदमी कुप्पा होकर गंभीर बना रहता है और जब एक बार खुल गये, तो उस कुप्पा में से एक दूसरे की सात पुस्तों तक की कमियाँ टपकने लगती हैं। मतलब यह कि गंभीरता ऐसी कैंचुली के समान है, जिसमें कोई न कोई विषधर छिपा रहता है। डंक मारे या न मारे फूत्कार छोड़े या चुप चाप सरक जाए,–खतरे की एक रेखा अवश्य खींच जाता है। या बगुले को फिर कोई मछली नजर आ गयी है।

अत: गंभीरता कोई साफ–सुथरी मन और तन की आह्लादमयी स्थिति नहीं है, इसकी सपाट तहों के नीचे जरूर ऐसी सिलवटें छिपी रहती हैं, जिनमें कुछ घुटन सी, कुछ कुंठा सी, कोई रूठन सी, कोई बेचैनी सी उमस देती रहती है। गंभीर आदमी का पोज़ देखा है? त्योरी तनी हुई हैं, भौंहें चढ़ी हुई हैं, उगलियाँ तोड़ रहा है, पैर बेमतलब हिल रहे हैं, होठ बुदबुदा रहे हैं, पैरों से कंकरी उछालता जा रहा है, हाथों से तिनके पत्ते नोच रहा है, खुद का बोध नहीं है, दूसरों की शोध में पागल है। कोई लक्ष्य नहीं, भीतर बेहोश बौखलाहट है। जाना कहीं है, पहुँच कहीं रहा है। रखता कहीं है–ढूँढ़ कहीं रहा है। खुजली नहीं चली फिर भी उँगली बालों में घुस रही है। जाना कहीं नहीं है, लेकिन ऐसे उठ खड़ा होता है, जैसे बड़ी भारी यात्रा करनी है। कमरे में, छत पर, मैदान में कोल्हू के बैल की तरह चक्कर काटे जा रहा है।

ऐसे गंभीर आदमी से जगत् का कोई बहुत भला होनेवाला नहीं है। वह अपने आसपास मनहूसी भरेगा। दूसरों के लिए नियम, कानून और सीमा मर्यादाएँ बघारेगा, लेकिन स्वयं वक्त पर चूक जाएगा।

एकाग्रता की बात ही कुछ और है। गंभीरता और एकाग्रता में बाहर से फर्क करना बड़ा मुश्किल है, लेकिन भीतर से दोनों भिन्न हैं। एकाग्र आदमी भी बाहर से गंभीर और उदास दिखायी देता है, लेकिन भीतर वह बड़ा हल्का और आनन्द भरा होता है और गंभीर आदमी भी बाहर से एकाग्र लगता है, लेकिन भीतर वह बोझिल, खिन्न और भभराया-सा होता है। एकाग्र व्यक्ति का अन्त: क्षितिज बिल्कुल साफ और प्रकाश पूर्ण होता है। जिसमें

उसकी आँख के आगे सिर्फ 'एक' दिखायी देता है। उस एक के अलावा और कोई न पीछे न दाँये–बाँये। उसमें आसक्ति भी नहीं होती,–प्राप्ति की, फलतः लोभ और महत्त्वाकांक्षा अपना सिर नहीं उठा पाती। उसमें आशंका भी नहीं होती, अप्राप्ति की, फलतः भय और कायरता जगने नहीं पाते। जबकि गंभीरता में इन सबकी माला फिरती रहती है। मन–मस्तिष्क में एक घमंजा सा बना रहता है।

एकाग्रता इस बात में और विलक्षण है कि वह कभी–कभी हँसी–खेल में, नाच–कूद में, मौज–मस्ती में और ऊधम-शरारत में भी सध जाती है और परिणामतः ऐसी चीजें दे जाती है, जो जगत् की धरोहर हो जाती हैं। बचपन का शरारती मारकानी पहाड़ियों से टकराकर आती हुई अपनी आवाज (प्रतिध्वनि) पर एकाग्र हो गया तो पहले विद्युत् घंटी और फिर रेड़ियो दुनिया को दे गया। न्यूटन एक सेव के पेड़ तले बैठा है, अपने आनन्द में। सेव का फल गिरता है नीचे और एक बिजली कोंध जाती है न्यूटन के मन में ! फिर उसकी एकाग्रता में से फूट पड़ता है, गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त ! आर्कमिटीज और आइंस्टीन को स्नान–टब में नहाते और बुलबुलों से खेलते–खेलते ही जगत् का रहस्य मिल गया। नानक अनाज तौलते–तौलते, मीरा और चैतन्य नाचते–नाचते ऐसे एकाग्र हुए कि उस एक में ही मिल गये। प्रयास से खोज–खोज कर थक जाता है आदमी और एक सुई नहीं मिलती और कभी– कभी बिना खोजे पुलक जाता है आदमी कि हीरा हाथ लग गया ! अनुसंधान होता है विनोद में और आनन्द बरसता है हल्के पन में। भारी के नीचे तो घास भी नहीं जम पाती–और–

गंभीरता भारी है, पत्थर की तरह और एकाग्रता तरल है, नदी के जल की तरह! गंभीरता जड़ है, अज्ञान की तरह और एकाग्रता चेतन है, ज्ञान की तरह गंभीरता मारक है, आसक्ति की तरह और एकाग्रता उपकारक है, अनासक्ति की तरह। गंभीरता शब्द में चिन्ता, निराशा, थकान सी, और निरुत्साह की परछाई तैरती है। एकाग्रता में आशा, उत्साह, ताजगी और सत् चिन्तन की इन्द्रधनुषी झलक है। गंभीर आदमी के लिए कभी–कभी तिल ताड़ जैसा और राई पहाड़ जैसी हो जाती है, जबकि एकाग्र व्यक्ति के लिए ये उलट जाते हैं। चिन्ता गंभीर बनाती है और चिन्तन एकाग्र करता है। जानकारी गंभीर बनाती है और तत्त्व ज्ञान एकाग्र ! गंभीरता में अवान्तर विचारों और खयालों का सिलसिला लगा रहता है और स्वार्थ दृष्टि बनी रहती है, जबकि एकाग्रता में विचार कम और भीतर की आँख ज्यादा काम करती है।

कवि और लेखक सर्जन के क्षणों में, दार्शनिक और रहस्यदर्शी तत्त्व-चिन्तन के क्षणों में, वैज्ञानिक नये अनुसंधान के समय, निशानेबाज लक्ष्य भेदने के समय, योद्धा दूसरे पर वार करते और अपना बचाव करते वक्त एकाग्र होते हैं। चित्रकला, नृत्य, गीत, संगीत आदि की महफिल से यदि एकाग्रता उठकर चली जाए तो चित्रों पर मक्खी भिन भिनाएँ, नृत्य पर कुत्ते भौंकें, गीत पर गीदड़ रोएँ और संगीत पर मेंढक टर्राएँ !

गम्भीरता में अन्यमनस्कता बराबर रहती है और एकाग्रता तन्मयता की पूर्वावस्था है। तन्मयता और तल्लीनता एक ही भाव-दशा के दो नाम हैं। गंभीरता में न तो अपने प्रति दृष्टि साफ होती है और न दूसरों के प्रति, अपितु एक धुन्ध की पर्त-सी चढ़ी रहती है दिल-दिमाग में। एकाग्रता में अपने प्रति हो न हो दृष्टि साफ या अपनी सुविधा का ध्यान हो न हो पर लक्ष्य पर बराबर दृष्टि साफ रहती है। अपना कुछ ख्याल भी बना रहता है, जबकि तन्मयता में 'स्व' का तो ध्यान ही नहीं रहता, पर में ही लीन हो जाता है। तन्मयता

एकाग्रता से आगे एकाकारिता की वह भावदशा है, जिसमें सारे भेद मिट जाते हैं। ध्याता ध्येय बन जाता है, ज्ञाता ज्ञेय हो जाता है और प्रेमी प्रिय में समा जाता है। न जाति रहती है न लिंग, न लोक का ख्याल रहता है न धर्म का। जैसे सूरदास की राधा माधव हो गयी और माधव राधा और जैसे फरहाद शीरी हो गया :

मेरा सब काम शीरी है, मेरा अन्जाम शीरी है।
मुझे फरहाद क्यों कहते मेरा तो नाम शीरी है।।

गंभीरता में आनन्द का ह्रास हो जाता है, एकाग्रता में आनन्द का विकास हो जाता है और तन्मयता में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द रह जाता है। द्वैत के अभाव में आनन्द का प्रभाव बढ़ता है। गंभीरता रेगिस्तान के कूआँ जैसी, एकाग्रता गंगा नदी जैसी और तन्मयता संगम जैसी है। गंभीरता निष्क्रिय, एकाग्रता क्रियाशील और तन्मयता में 'तदेजति तन्नेजति' जैसी स्थिति होती है। गंभीरता में सुस्ती, एकाग्रता में चुस्ती और तन्मयता में स्फूर्ति होती है।

गंभीरता सहज स्वाभाविक नहीं है, प्रयत्नसाध्य है, जबरदस्ती रोकी जाती है, चेष्टा करके ओढ़ी जाती है। प्रयत्न, जबरदस्ती और चेष्टा इन तीनों में ही तनाव होता है, द्वन्द्व होता है और एक खिंचाव होता है। गंभीरता में ऐसे घुटता है दम, जैसे कोई खिड़की दरवाजे जबरदस्ती बंद करके भीतर बैठ जाए। जो गंभीरता की दीवारों के बीच बंद हो जाता है, उसके लिए हवा, प्रकाश, आकाश सबका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। हवा आती है खुले में और खाली में और प्रकाश आता है खुले में--बन्द में तो मौत आती है और गंभीरता मौत का आभास है।

गंभीरता से दबा आदमी डूबा सा रहता है तो डूब ही जाता है–विषाद में,शोक में, ईर्ष्या और द्वेष में। हल्केपन से तैरकर पार जाने के आनन्द को वह भूल ही जाता है। लहरों के नृत्य को नहीं देख पाता, हवाओं के संगीत को नहीं सुन पाता। सुख-दुख के भँवरजाल से वह बाहर नहीं निकल पाता।

गंभीरता विवेक की ओर कम और व्यग्रता, उद्विग्नता की ओर अधिक ले जाती है। जब कभी आदमी के सामने किसी लक्ष्य, किसी नियम, किसी कानून, किसी परीक्षा, किसी भाषण, किसी सरकारी लिखा-पढ़ी आदि की बात आती है, वहीं गंभीरता का बीज-वपन हो जाता है। कारण यह है कि ये सारी चीजें आदमी की स्वतंत्रता, स्वच्छन्दता पर जबरदस्ती प्रहार करती हैं। उसे एक खाँचे में भरने के लिए मजबूर करती हैं, जबकि जीवन, जगत्, प्रकृति, और परमात्मा का मूलतः कोई लक्ष्य, कोई उद्देश्य कोई कानून नहीं है। ये सारी चीज़ें आदमी की बनायी हुई हैं कि समाज में अराजकता न फैल जाए कि मर्यादा भंग न हो जाए। ज़ितने भी नियम कानून और लक्ष्य आदि आदमी ने बनाये हैं, वे सब टूटे हैं या तोड़े गये हैं। आखिर क्यों? कृत्रिम को तो आगे-पीछे विरूप होकर टूटना ही है। जबरदस्ती भरे हुए को फूटना ही है।

आदमी के बनाये हुए नियमों के विपरीत जो है, वही मूलतः नियम और कानून है अर्थात् अलक्ष्य ही लक्ष्य है; निरुद्देश्य ही उद्देश्य है और असीम ही सीमा है। अन्यथा ऐसा क्यों होता कि कभी-कभी आदमी जो सोचता है जो लक्ष्य लेकर चलता है, वह नहीं होता, हो वह जाता है, जिसकी कल्पना भी नहीं होती।

गंभीर लोगों ने ही समाज बनाया, संबंध बनाये और समाज के नियम बनाये। ऐसे ही लोगों ने एक साजिश क़े तहत, मानवता को बाँट कर अपना शासन चलाने के लिए अनेक

जाति, वर्ण और धर्म बना डाले–उनके नियम सीमा और आचार संहिताएँ बनायीं ताकि आदमी मुक्त न हो सके, वास्तविक सत्य को न देख सके ! सीमा इसलिए है कि आदमी असीम को न जान जाए।

पूजा-प्रार्थना, ध्यान और ज्ञान को भी इन चालाक लोगों ने गंभीरता के पर्दे से ढँक दिया कि पूजा-पाठ करते समय ढोंह लटकाए बैठे रहो, वहाँ हँसना मना है–तभी तो पूजा पाठ ढोंग हो गये। धर्म को इन्होंने गुफा में बंद कर दिया कि "धर्मस्य तत्त्वं निहितः गुहायाम्।" बताइए जो खुला है हवा की तरह, पेड-पौधों की तरह, आकाश, धरती और आग की तरह,– उस धर्म को गुफा में बंद कर दिया और कहते हैं कि तुम्हें धर्म का भय नहीं। जब गुफा में ही बन्द है भेडिया, तो उसका डर कैसा? दूसरी बात, धर्म कोई भूत-पिशाच है कि जिससे डरा जाए। डरा तो बुरे से जाना चाहिए, लेकिन यह धर्म का डर दिखाते हैं, फिर दुनिया अधार्मिक हो जाए तो क्या बुरा है? शायद इसीलिए दुनिया में धर्म का नहीं अधर्म का बोलबाला है। क्योंकि धर्म तो गंभीर गुफा में बन्द है। जिससे डरता है आदमी, उसके विरोधी को गले लगाता है। जब धर्म से डराएँगे आप, तो अधर्म को गले लगाना ही पड़ेगा। बात यह है कि धर्म को दुर्गम कहकर ही यहाँ अधर्म फैलाया गया है और सत्य को मुश्किल कहकर ही यहाँ झूठ का विस्तार किया गया है।

"धर्मस्य तत्त्वं निहितः गुहायाम्" इस अंश का तो तमाशा देख लिया अब जरा इसके अवशेष अंश पर भी ग़ौर फ़रमाइए। इसका शेषांश है, "महाजनो येन गतः स पन्था।" अपनी अल्प जानकारी में हमें यह 'महाजन' शब्द 'महान् विवेकी' लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ नहीं मिला है। 'महान्' और 'महा' में अन्तर भी बहुत है। किसी को महान् ब्राह्मण कह दिया जाए तो मुसकराएगा और 'महाब्राह्मण' कह दिया जाए तो जूता उठा लेगा। एक ही 'वर्ण' के आगम या लोप से कभी-कभी पूरा अर्थ बदल जाता है। तो भले ही यह 'महाजन' शब्द महान् पंडित या महान् विद्वानों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, लेकिन लोक और समाज में 'महाजन' शब्द का अर्थ बहुत धनवान् और 'सूद पर पैसा देने वाला' है। कोई कैसे धन कुबेर होता है? यह सब जानते हैं और इन सूदखोरों की फितरत से कुत्ते भी अच्छी तरह वाकिफ़ हैं कि ये किस तरह चालबाजी से लूट खसोट और बेईमानी से धन इकट्ठा करते हैं और फिर उसे सूद पर देकर कैसे गरीबों की चमड़ी उधेड़ते हैं? अब 'वे' कहते हैं कि ऐसे 'महाजन' जिस पथ से चलते हैं या गये हैं, वही मार्ग सन्मार्ग है। उसी पर चलना चाहिए। तब, दुनिया लूट-खसोट और बेईमानी कर धन के लिए पागल कैसे न हो जाए? आज धन ही आदमी के लिए सर्वस्व हो गया है। हे अर्जुन दादा! श्री कृष्ण से कहे हुए अपने 'त्वमेव माता च पिता. .....' श्लोक को आकर ऐसे बदल दीजिए कि 'धनेव माता च पिता धनेव.....' यह संसार आपका आभारी रहेगा !

एक मन के हारे हुए व्यक्ति को छोड़कर संसार में कहीं गंभीरता नहीं है। पेड़–पौधे हैं हिलते–खिलते हुए ! पानी है–कल–कल करता हुआ। हवा है–सरसराती हुई। आकाश है–सूरज,चाँद–सितारों से झिलमिलाता हुआ। पक्षी हैं–चहकते कलोल करते हुए। बचपन है–किलकारी भरता हुआ। यौवन है–सारी सीमाएँ लाँघता हुआ। केवल रुका हुआ पानी गंभीर है, सो सड़ता और बजबजाता है। रुकी हुई हवा गंभीर है, सो उमस पैदा करती है। बुढ़ापा गंभीर है, सो मक्खी भिनकती हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि न यह सृष्टि गंभीर है और न वह स्रष्टा। कहते हैं कि

यह सृष्टि उस महा चेतन सत्ता की लीला–स्थली है। लीला अर्थात् एक खेल, एक उल्लास, जिसमें वह सर्वदा लीलामय आनन्द कर रही है। प्रसाद जी ने लिख दिया है "कर रही लीला मय आन्नद महा चिति सजग हुई सी व्यक्त।" जब सब कुछ खेल है, मजाक है तो फिर यह मनुष्य गंभीर क्यों हो जाता है। हम गंभीर क्यों हो जाते हैं ? जरा सोचने की बात है।

कहीं ऐसा तो नहीं कि हमने जादू को असल समझ लिया है या झूठ को सत्य समझ लिया है या सत्य को झूठ मान लिया है या अपराध बोध हो गया है या किसी के अपकार की बात मन में आयी है या अपने बौनेपन का अहसास हो गया है या कोई अपनी चोरी पकड़ी गयी है या साथी की उन्नति की बात से मन में फफोले पड़ गये हैं। मनुष्य की गंभीरता के उत्पादक ये कारण भी हैं। कठिन, मुश्किल, असंभव, रहस्य, खतरा, सावधान, धोखा आदि शब्द जब अपने अर्थ के साथ भीतर उतर जाते हैं तो वे गंभीरता को चेहरे की ओर ढकेल देते हैं। हँसी–मजाक, नाच–कूद, चुहल–चकल्लस, ऊधम–हुल्लड़ आदि के लिए मर्यादा, सीमा, सभ्यता का डंडा लिए बैठी रहती है गंभीरता! इसको बचपन नहीं भाता,–यौवन नहीं सुहाता। तड़क–भड़क इसकी आँखों की किरकिरी है।

हर सर्जन की आँख खुलती है,–चुहलवाजी में, खेल-खेल में, हल्केपन में, और स्वच्छन्द मनमौजी में। हमने अनुभव किया है कि जब हम गंभीरता ओढ़कर, बिना एकाग्र हुए कोई काम शुरू करते हैं तो न तो वह काम पूरा होता है न सुफलदायी होता है, अपितु एक बोझ सा, तकल्लुफ सा लगता है। जब–जब हम गंभीर होकर सोचने बैठते हैं तो विचार पल्लवित नहीं होते, लिखने बैढ़ते हैं तो अभिव्यंजना के फूल नहीं खिलते, चलते हैं तो मंजिल सौ कोस हो जाती है। पर जब–जब हम विनोद में, क्रीड़ा में अथवा मुक्त आनन्द दशा में होते हैं तो कुछ अचानक नयी चमक आती है, प्रतिभा में कोई आश्चर्य जनक विस्फोट होता है, कोई कविता जन्म लेती है, किसी सूक्ति का अवतरण होता है, कोई अर्थ बिम्बित होता है, कोई वैज्ञानिक अनुसंधान होता है, कोई रहस्य खेल बन जाता है, किसी अनसुलझी गुत्थी का हल निकल आता है, कोई भुली हूई चीज यों ही याद आ जाती है।



५. शक–सन्देह

प्रत्येक भाव या कुभाव सोया तो मन में ही रहता है, लेकिन उसकी नींद अपने आप नहीं खुलती। उसे जगाती हैं, समाज की परिस्थितियाँ, जगत् की हवाएँ और बड़ों के उपदेश! हम बचपन से ही सुनते आये हैं कि 'जैसा देश, वैसा वेश'। भले ही इसमें विपरीत करने की प्रेरणा न हो, लेकिन इस समूचे वाक्य की व्यंजना यही है कि रीति में, रिवाज में, चाल में, चलन में,–संसार के अनुसार चलो। अर्थात् जैसा लोक हो, वैसे ही बनो ! अच्छाई के बदले अच्छाई यदि न भी की जाए तो बुराई भी नहीं की जानी चाहिए ; लेकिन जब कोई हमारे साथ बुरा करता है तो कुछ अपवादों को छोड़कर उपयुर्क्त लोकोक्ति में से पंचानवे प्रतिशत यही प्रेरणा निकलती है कि लोग तुम्हारे साथ बुरा करें तो यदि तुम बुरा कर न पाओ तो उन्हें बुरा कहो। लोग यदि तुम्हें लूटें और यदि तुम लूट न पाओ तो उन्हें लुटेरा, ठग, धोखेबाज कहो। और समझो। प्रमुखता भीतर के भाव या वृत्ति की है, किया अथवा कहा, फर्क क्या है? कहने वाला किसी दिन कर भी सकता है और संसार के झटके खाते-खाते एक दिन यह कहावत चरितार्थ हो ही जाती है कि "जैसी बहै बयारि पीठि दै तैसी कीजै।"

क्योंकि यहाँ चारों ओर धोखा है, छीना–झपटी है, जालसाजी है, लूट है, तिकड़म बाजी है, तुम यदि सीधे–सरल–निष्कपट बने रहे तो धोखा खाओगे। दुनिया तुम्हें लूट लेगी, ढग लेगी। अत: इन बातों को अच्छी तरह जान जाओ और 'जैसे को तैसा' करने के पूरे गुर सीख जाओ। बचपन जैसे ही आगे को कदम बढाता है, उसके कान में "देख भालकर" 'सँभाल कर' 'होशियारी से' आदि हित करने वाली अहितकर बातें डाल कर निश्छल मन में शंका–सन्देहों को उठाकर खड़ा कर दिया जाता है। मतलब यह कि इस जगत् में चैतन्य रहने के उपदेश से अविश्वास जन्म लेता है, सावधानी की सलाह से आशंका पैदा होती है और सँभल कर रहने की चेतावनी से भय और सन्देह उत्पन्न होते हैं।

अत: सन्देह शुभ-अशुभ दोनों के प्रति मन की ऐसी अनिश्चयात्मक वृत्ति है, जिसमें आशंका, अविश्वास और भय का निवेश होता है। अर्थविज्ञान या शास्त्रीय दृष्टि से शंका, शक, सन्देह, भ्रम, भ्रान्ति और संशय आदि भिन्नार्थी हैं, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से इनका समाहार शक और संदेह इन दो में हो जाता है। भ्रम, भ्रान्ति शक के पाले में चले जाते हैं और संशय आशंका संदेह के पाले में। अब शक और सन्देह में व्यावहारिक दृष्टि से थोड़ा अन्तर दिखायी देता है।

'शक' बनी हुई अच्छी धारणा के विपरीत जरा सा इशारा पाकर पैदा हुई प्रमाणहीन लेकिन सच जैसी लगनेवाली गलतफहमी है और सन्देह अनुकूल-प्रतिकूल या सच-झूठ दोनों के प्रति अनिश्चय की ऊहापोह है। शक में, जो नहीं भी है, उसे ऐसे मान लिया जाता है, जैसे कि है। अर्थात् शक्की आदमी झूठ को सच मानकर उसी को मनवाने के लिए अड़ जाता है। उसके आक्रोशमय अडियलपने को, उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति में घटी हुई कुछ आपत्तिजनक घटनाएँ, चेष्टाएँ, इशारे, जिनमें वास्तविकता के अंश का निश्चय नहीं होता, और हवा देते हैं, जबकि संदेह में मन दुविधा और अनिश्चय के झूले में झूलता रहता है। कभी तो लगता है कि है और कभी लगता है, नहीं है। सन्देह में आक्रोश और अडियलपना नहीं होता, थोड़ी झुँझलाहट जैसी होती है। थोड़ा यह भी ख्याल रहता है कि कहीं मेरा सोच

गलत न हो कि व्यक्त कर देने पर कहीं मेरी छवि न गिर जाए। अतः इसमें थोड़ा धीरज का अंश और थोड़ी जाँच-पड़ताल करने की बुद्धि भी होती है। शक में गलत के लिए भी ऐसा ही है' की और संदेह में' ऐसा भी हो सकता है' की धारणा बनी रहती है। लेकिन पुष्ट प्रमाणों के अभाव में अन्तिम निर्णय की स्थिति दोनों में ही नहीं बन पाती। अन्त में चलकर शक-सन्देह दोनों मिलकर एकरस हो जाते हैं।

शक या सन्देह यदि अपनी ही बनायी हुई गलत धारणा के अनुकूल सच निकल आया तो हृदय से श्रद्धा, विश्वास और प्रेम को तोड़ कर सदा के लिए नफरत, तनाव, हिंसा और विघटन की भावना से मन को विकृत का देता है–और यदि गलत धारणा को काटने वाला प्रतिकूल सच निकला तो अपने प्रति पश्चात्ताप और संदिग्ध के प्रति आदर, प्रेम और श्रद्धा पैदा करता है।

अत: शक–सन्देह श्रद्धा, विश्वास और प्रेम के आगे खड़े हुए प्रश्न–चिन्ह(??) हैं और अविश्वास, अनिश्चय तथा घृणा के नीचे खिंची हुई चटकीली अधोरेखा। भ्रमित कर देनेवाले ऐसे चौराहे पर आकर आदमी खड़ा हो जाता है, जिसकी एक भी राह सही मंजिल तक नहीं जाती। मुश्किल यह है कि यदि आदमी छल–कपटहीन भोला बना रहे तो यह चालबाज दुनिया बाहर से लूट लेती है और उससे बचने के लिए यदि चालाकी चतुराई सीखे तो बिना शक-सन्देह किये बच नहीं सकता तो फिर भीतर के श्रद्धा, विश्वास, प्रेम आदि मानवीय मूल्य लुट जाते हैं।

शक–सन्देहों की परिणति और क्रियाशीलता बड़ी विरोधाभासमयी होती है। जिसका मन संदिग्ध हो जाता है, उसमें सबसे पहले कुंठा की गाँठ पड़ती है फिर वह तनाव से तनती भी है, सिकुड़ती भी है, लेकिन यह गाँठ रस्सी की गाँठ की तरह नहीं होती, अपितु रबड़ के तार में लगी गाँठ की तरह होती है, जो दूर तक तनती और तानती है तथा छूटकर अपने ही सीने पर चोट करती है।

शक्की आदमी में अन्य कर्तव्य कर्मों के प्रति लापरवाही होती है, लेकिन शक के कारण के प्रति बड़ी भारी जागरूकता। उसका मन वर्तमान और भविष्य की ओर पीठ कर अतीत के लत्ते बखेरता रहता है। उसकी नींद कुत्ते की सी, उसकी चेष्टा कौए की सी और उसका ध्यान बगुले का सा होता है। सामने रहे या दूर, चुप रहे या कुछ बोले– अपने लक्ष्य की ओर ऐसे बिना पंख उड़ता रहता है जैसे "उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पै आवै।" तुलसीदास ने तो ब्रह्म के लिए कहा था, लेकिन मुझे उनका कथन शक-सन्देह पर सटीक बैठता दिखाई दे रहा है कि:

"बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। बिनु कर करम करै विधि नाना।।"

और इसीलिए शक के लिए, लोक ने यह कहावत बनायी होगी कि 'शक के पाँव नहीं होते।' वस्तुत: शक या सन्देह स्मृति और अनुमान के पैरों से दौड़ता है; कान की आँखों से देखता है; गर्द गुबार और धुन्ध भरी औंधी खोपड़ी से सोचता है और उसका हृदय निर्जन जंगल के किसी अंधे कुएँ की तरह होता है, जिसमें न तो चुल्लू भर पानी दिखाई देता है, न मुट्ठी भर मिट्टी होती है, केवल कूड़ा करकट और विषैले जीव-जन्तुओं की पनाहगाह होती है।

शक–सन्देहों का मन में चतुर्भुज नहीं बनता–एक सतत भ्रमणशील वृत्त बनता है। यदि यह वृत्त उभर गया तो इसकी गति को नापा नहीं जा सकता। किसी भी नुक्ता, किसी भी बात, किसी भी स्थिति, किसी भी गुण या दुर्गुण का बहाना पकड़ यह अपनी पूरी रफ्तार

पर आ जाता है। लेकिन शक सिर्फ शक ही है या सत्य? इसको सिद्ध करके किसी एक निर्णय पर पहुँचना असंभव है, क्योंकि शक सदा आँख से ओझल अतीत की किसी घटना की स्मृति के कारण ही होता है और दूसरे का अतीत तथा अपना भविष्य कभी भी न सुलझने वाला रहस्य है। जीवन फिल्म का पर्दा नहीं है कि रील घुमाकर अतीत में घटी घटना को हू ब हू दिखा दिया और सन्देह दूर हो गया! रहस्य का अर्थ ही यह है कि सुलझाते-सुलझाते जो और उलझता जाए! शक दुनिया का सबसे बड़ा रहस्य है।

सन्देह विश्वास के बाँध में पड़ी हुई दरार है, जिसमें से प्रेम, वफा, कद्र, आदर श्रद्धा आदि का पानी रिसने लगता है और रिसते-रिसते वह दरार एक दिन दर्रा बन जाती है और रिसाव बाढ़ का रूप ले लेता है, जिस बाढ़ से जिन्दगियों की आबादी विषमार हो जाती है। आशा आकांक्षाओं की सारी फसलें डूब जाती हैं। रास्ते बंद हो जाते हैं। संबंध बिगड़ जाते हैं। संदेह की आँख सदा विपर्यय या विलोम ही देखती है।

हर आधि का कभी न कभी, कोई न कोई निराकरण निकल आता है, लेकिन कहते हैं लोग कि इस शक की दवा तो लुकमान भी नहीं खोज पाया। सारे संसार को इसने खाया है, लेकिन यह किसी पर खाया न गया कि 'संसा सब जग खाइया, संसा किनहूँ न खद्द।' क्यों नहीं मिटता यह? क्योंकि जहाँ दोनों पक्ष बराबर होते हैं, न कोई तोला बढ़कर, न कोई मासा घटकर–तो वहाँ हार जीत का फैसला कभी नहीं हो पाता। दोनों पक्षों में आजीवन तना-तनी बनी रहती है। शक-सन्देहों में यही होता है कि न शक्की में पासंग पड़ता है, न संदिग्ध में। दोनों के ही तर्क अपने-अपने पक्षों को सत्य सिद्ध करने के होते हैं। एक दूसरा, एक दूसरे के लिए झूठा और धोखेबाज होता है। दोनों ही झूठ का सहारा पकड़ कर एक दूसरे से सत्य की अपेक्षा करते हैं। अपने दुर्गुणों को भूलकर दूसरे से सद्गुणों की आशा करते हैं। अतिशय मोहान्ध होकर और अपने दुर्गुणों पर पर्दा डाल कर, जब हम दूसरों से अनुकूलता की कामना करने लगते हैं और जब अपेक्षित अनुकूलता नहीं मिलती तो मन अविश्वासी हो जाता है, चित्त संदिग्ध हो जाता है, और संसार पर से भरोसा उठ जाता है। अविश्वास शक-सन्देहों की माता है और पिता भी।

कोई अजनबी जब पहली बार हमसे मिलता है तो उसके प्रति मन में एक हल्की सी कुतूहल की रेखा खिंचती है और जब वह अपने किसी गहरे स्वार्थ को छिपाकर मीठा बोलता है तो समझदारों के मन में वह कुतूहल सन्देह में बदल जाता है।

पहले पहल (बिना जाँचे-परखे) पैदा हुए सन्देह के गलत साबित होने पर जो विश्वास जन्म लेता है, वह नहीं टूटता और बिना जाने ही विश्वास कर लेने पर, उसके खंडित होते ही, जो सन्देह पैदा होता है, वह नहीं टूटता।

सन्देह पर जब सन्देह होने लगे तो विश्वास जन्म लेता है। विश्वास जब आसन जमाकर अडिग हो जाए तो आस्था बन जाती है। आस्था में से जब अहंकार निचुड़कर समर्पण समा जाए तो श्रद्धा बन जाती है। श्रद्धा में जब पवित्र प्रेम का योग हो जाए तो भक्ति बन जाती है और भक्ति जब साँस-साँस में बस जाए तो भगवान् उतर आता है; लेकिन अन्धे विश्वास में से सन्देह निकलता है; अंधी आस्था में से धोखा निकलता है; अंधी श्रद्धा में से चापलूसी और बेगार निकलती है और अंधी भक्ति में से अधर्म और पाखंड निकलता है।

बहुत गहरे अनुभव के बाद पता चलता है कि सोच-विचार, तर्क-वितर्क आदि सन्देह के कारण ही पैदा होते हैं। अपने विचार हमें इसीलिए अच्छे लगते हैं कि दूसरों के विचारों

पर सन्देह है। अपने तर्क हम इसीलिए प्रस्तुत करते हैं कि दूसरों के तथ्यों पर सन्देह है। अपना परिवेश, अपने रीति रिवाज, अपने धर्म-जाति, अपने लोग हमें इसीलिए अच्छे लगते हैं कि दूसरों पर कोई न कोई सन्देह है। हर नये में सन्देह है, हर पुराने में संदेह है। हर सुरक्षा में सन्देह है। हर यात्रा में सन्देह है। अकेले में सन्देह है–भीड़ में सन्देह है। मित्र में सन्देह है, शत्रु में सन्देह है। खरीदने में संदेह, बेचने में संदेह– तात्पर्य यह कि संसार सन्देह का ही दूसरा नाम है। क्या कहें?

लिखने में संदेह कि कहीं गलत न हो। कहने में सन्देह कि कहीं किसी को बुरा न लगे। मानने में सन्देह कि कहीं धोखा न हो। मनवाने में सन्देह कि कहीं अवज्ञा न हो। आदमी मकड़ी और संदेह उसमें से निकलने वाला जाला है, कि जितना ही आगे बढ़ता है, उतना ही जाला उसके लिए जाल बनता जाता है।

अविश्वास, सन्देह का शाप है और यह शाप यदि किसी निश्छल को लग जाए तो उसके जीवन को तबाह कर देता है; अच्छाई के मार्ग से बुराई के मार्ग पर ढकेल देता है। हम अपनी जगह बिल्कुल सही है; लेकिन जब कोई हम पर विश्वास न करे तो तंग आकर हमें बुराई का मार्ग अपनाना पड़ता है। इस दुनिया में शुद्धता और ईमानदारी की कद्र नहीं है। यहाँ बिना ताँबा-पीतल मिलाये शुद्ध सोने के आभूषण नहीं बनते। बन भी जाएँ तो चल नहीं पाते।

शक-सन्देहों की वैसे तो गणना नहीं की जा सकती कि कब, किस कारण से किसपर ये पैदा हो जाएँ, फिर भी इनको दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला 'काम संबधी' और दूसरा 'समाज संबंधी'।

बन्द कमरों में पनपने वाले 'काम-सम्बन्ध' शक-सन्देहों के लिए खुली छत और खुले दरवाजे हैं। इनका जादू कतिपय पति-पत्नियों के बीच देखने को मिलता है। सच पूछा जाए तो इनके बीच पैदा हुई शक-सन्देहों की बीमारी एक प्रकार की 'विष-बाधा' होती है। कहते हैं कि बीमार घोड़ों के तबेले में बंदरों को छोड़ दिया जाए तो घोड़ों का रोग बंदरों पर आ जाता है। यह कथन यहाँ चरितार्थ होता है कि पति-पत्नी के बीच शक-सन्देहों के कारण उत्पन्न तनाव और कलह परिवार और बच्चों को खा जाते हैं। रोग होता है किसी को और स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, किसी का। जिस घर में सन्देह का साँप घुस गया, उस घर से सुख-नींद भाग जाते हैं।

दूसरे प्रकार का सन्देह सामाजिक संदर्भों से जुड़ा है, जिसका विस्तार हित-मित्र और सहयोगियों से लेकर परिचित-अपरिचित संसार तक फैला रहता है। पहला पारिवारिक प्रेम और विश्वास की जड़ों को उखाड़ता है और दूसरा समाज और देश से सच्चाई, ईमानदारी, भाईचारे और आदर को समाप्त करता है। इकतरफा स्वार्थ से सन्देह पैदा होता है और जरा सा स्वार्थ आया कि ईमानदारी बेईमानी बन जाती है। विरोध से संदेह पैदा होता है और जरा सा किसी ने हमारा विरोध किया कि प्रेम घृणा बन जाता है। बुराई पर विश्वास और अच्छाई पर सन्देह करना मनुष्य की आदत है। जरा सा सन्देह हुआ कि अच्छाई बुराई बन जाती है।

जो हमारे सर्वाधिक निकट होते हैं, हमें राहत और सहयोग देते हैं,– वे ही एक दिन हमारे शक का, सन्देह का, शत्रुता का, तनाव का कारण बन जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? शायद इसीलिए कि जिस बात को जान या परख लिया जाता है, वह फिर सामान्य या नगण्य हो जाती है और जिसे नहीं जाना जाता है, वह विशेष बनी रहती है। गुणें का आकर्षण निकटता बनाता है। निकटता गुणों की गहरी जानकारी कराती है। जानकारी गुणों का सामान्यीकरण कर देती है। इसके बाद अवगुणों को जानने की जिज्ञासा प्रबल हो उठती है।

क्योंकि वे शेष रहकर विशेष बन जाते हैं। जिज्ञासा प्रश्न पैदा करती है और प्रश्नों के खोल में से ही शक-सन्देहों का बीज निकलता है, जो कमजोर और हीनता की धरती में बड़ी जल्दी अंकुरित होकर अपनी जड़ों को भीतर और शाखाओं को बाहर फैलाता चला जाता है। और एक दिन ऐसा विष-वृक्ष बनता है, जो अपनी विषैली छाया से सारे जीवन को काला कर देता है।

हर हाल में शक-सन्देहों का उत्पत्ति का कारण पर-चिन्तन है। वह भी दूसरों की अच्छाइयों के विष्य में नहीं, बुराइयों के विषय में, दूसरों के व्यक्तिगत जीवन की गोपनीय बातों को जानने की जिज्ञासा में।

मनुष्य की एक विशेषता यह भी है कि उसे अपने तो बडे से बड़े पाप भी खेल जैसे, तनाव-मुक्ति और मनोरंजन के साधन जैसे लगते हैं और दूसरों की छोटी सी भूलें भी व्यभिचार जैसी, महापाप जैसी। पर यह भूल जाता है कि दूसरों के कुकर्मों की गणना करने से अपने सुकर्म क्षीण हो जाते हैं। दूसरों के पापों पर नजर रखने से अपने पुण्य विलीन हो जाते हैं। दूसरों के बारे में सोचने से आत्म-विस्मृति होती हैं। दूसरों के बारे में जानने से आत्म-ज्ञान खोजाता है। दूसरों के बारे में खोदने से शक-सन्देह निकलते हैं। दूसरों के अवगुणों को जो नहीं भूलता, धीरे-धीरे गुण उसका साथ छोड़ देते हैं। वह सौन्दर्य को खो बैठता है। मंगलमयी प्रसन्नता को धो बैठता है। नफरत फैंकता है। उपेक्षा पाता है। तिरस्कृति खाता है। अपमान पीता है। मरा हुआ जीता है। उसमें भय तैरता है। कायरता झाँकती रहती है। क्रोध उबलता रहता है।

गीता कहती है 'संशयात्मा विनश्यति'। निश्चित ही शक-सन्देह विनाशक हैं, पतनशील हैं; लेकिन तभी, जब हम इनके प्रवाह के साथ अपने आप को बहा देते हैं, अपने को खो देते हैं, क्योंकि नदी के तेज बहाव में बह जाने पर तो डूबना ही है, लेकिन जब हम किनारे खड़े होकर उस बहाव की गति को, उठा-पटक को, उसकी लहरों-भँवरों को निरपेक्ष-तटस्थ होकर केवल देखेंगे ही तो डूब कैसे जाएँगे? ऐसे ही शक-सन्देहों का बहाव आए और हम उनके तटस्थ द्रष्टा बन जाएँ तो वे हमें कुंठित, तनावग्रस्त और पतित नहीं कर सकते, अपितु हमें चिन्तनशील बनाकर हमारे भीतर चैतन्य, सुरक्षा, जागरूकता एवं भीतरी यथार्थ को जानने के नये आयाम खोलते हैं और पता चल जाता है कि यह मन स्मृति के आधार पर यदि किसी झूठी बात की कल्पना करले और फिर उस काल्पनिक कहानी को दुहराता-तिहराता रहे तो वह झूठ सत्य जैसा आभासित होने लगता है: लेकिन झूठा सच आश्वस्त नहीं करता-एक आकुल जिज्ञासा या उमसती आकांक्षा कुलबुलाती रहती है और शक का अदृश्य धागा हृदय को हिलाता रहता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि शक-सन्देह आदमी को चिन्तनशील बनाकर उसे चतुराई, जागरूकता और सुरक्षा की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं; लेकिन मानवीय मूल्यों के ह्रास का एक खतरा भी साथ चलता है, वैसे ही जैसे 'फाइर ब्रिगेड' घंटा बजाती हुई अति त्रीव गति से दौड़ती तो है आग बुझाने के लिए, लेकिन राह में दुर्घटना हो जाने का खतरा भी रहता है। तो शक भी चतुराई तो दे सकता है, लेकिन चतुराई प्रेम को चाट जाती है। शक जागरूक तो बना सकता है, लेकिन जागरूकता विश्वास में विष मिला देती है। शक सुरक्षा तो दे सकता है, लेकिन सुरक्षा भय को छिपाये आती है।

शक-सन्देह इसलिए भी नहीं मिटते कि इनमें प्रश्न तो पैदा होते हैं शक्की के दिमाग

में, पर वह उत्तर और समाधान चाहता है, संदिग्ध से। जबकि सच्चाई यह है कि जहाँ से प्रश्न आता है, वहीं से उसका उत्तर भी आता है। अपना प्रश्न और पराया उत्तर! तालमेल बैठना मुश्किल है।

तालमेल बैठाने के लिए, या आश्वासन के लिए या सच्चाई को छिपाने अथवा उजागर करने के लिए फिर शक-सन्देहों की कोख से कसम, शपथ, वचन, प्रतिज्ञा, गंगा-धर्म आदि शब्द पैदा होते हैं, जिन्हें दोनों ही पक्ष अपना-अपना कवच बनाकर इस्तेमाल करने से नहीं चूकते। परन्तु ये सारी चीजें झूठ की बैसाखी हैं। सत्य को ढकने के पर्दे हैं। धोखे के बीजमंत्र हैं। इनके माध्यम से एक पक्ष सत्य को जानना चाहता है और दूसरा छिपाना चाहता है। यद्यपि सत्य बेजबान होता है और जबान पर आते ही झूठ बन जाता है। फिर भी, सत्य को छिपाया नहीं जा सकता। सत्य आग जैसा है, जिसे झूठे तर्कों के कचरे से बुझाया नहीं जा सकता।

रोक-टोक, बंधन, मर्यादा, नीति, उपदेश, सीमा, चौकसी, जासूसी, पहरे, आदर्श सबके पीछे शक-सन्देह बैठे हैं। सन्देह के कारण ही इनकी उत्पत्ति हुई होगी। रोक-टोक के पीछे स्वेच्छाचार का सन्देह है। बंधन के पीछे व्यभिचार का सन्देह है। मर्यादा के पीछे सदाचरण के हनन का सन्देह है। नीति के पीछे अनीति का सन्देह है। उपदेश के पीछे पथभ्रष्टता का सन्देह है। फिर भी शक-सन्देह रुक नहीं पाते। सौगन्ध और कसमों का छाता शक के अन्तर्दाह का सामना नहीं कर पाता। रोक-टोक, बंधन-मर्यादा का बाँध शक-सन्देहों की बाढ़ को रोक नहीं पाता। नीति, उपदेश, चौकीदारी, जासूसी के प्रबल प्रहरी रहते हुए भी मन शक-सन्देह के चोरों को घर में घुसा ही लेता है। शक यदि सोलह आने शक ही मान लिया जाए तो ही मर सकता है। झूठ के झूठ होने में विश्वास आ जाए तो सत्य की झलक दिखायी दे सकती है।

यहाँ हर इष्टकर अनिष्टकर भी है और अनिष्टकर इष्टकर भी है। यदि कोई चीज अनिष्टकर और केवल विनाशक ही होती तो स्रष्टा ने उसे बनाया ही नहीं होता, क्योंकि वह सर्जक है, संहारक नहीं। वह तो जन्म देता है, मृत्यु पीले पत्तों का अपने आप झड़ जाना है। तो हर अनिष्ट, इष्ट की परीक्षा है। शक-सन्देह भी वास्तविक जीवन की परीक्षाएँ हैं। इन परीक्षाओं को बिना पार किये न तो दार्शनिक पैदा हुए और न रहस्यदर्शी संत; न तो कवि बन पाये और न वैज्ञानिक। सन्देह में यदि चिन्तन की आँख खुल जाए तो दार्शनिक पैदा होता है। यह आँख यदि सन्देह की सीमा को पार कर जाए तो रहस्यदर्शी संत जन्म लेता है। सन्देह में यदि हृदय विशाल हो जाए और उसमें संवेदना समा जाए तो कवि उत्पन्न होता है और सन्देह में यदि बौद्धिक जिज्ञासा खड़ी हो जाए तो वैज्ञानिक निर्मित होता है।

शक-सन्देहों के आयाम भिन्न, रंग अलग और इनसे उत्पन्न मनोविकार जुदा-जुदा होते हैं। पत्नी पर शक से अविश्वास, नफरत और अलगाव; संतान पर शक से-अपयश; भाई पर शक से स्वार्थ और कपट; मित्र पर शक से साजिश और षडयन्त्र; पड़ोसी पर शक से जलन, द्वेष और शंका और अपरिचित पर शक से भय और कायरता पैदा होते हैं। शक छूत की बीमारी है कि किसी एक पर हो जाए तो उससे मिलने-जुलने वाले सभी को अपनी चपेट में ले लेती है।

यद्यपि हर नये कदम पर संदेह है फिर भी संदेह के बिना कोई नया कदम उठता नहीं। यद्यपि हर अज्ञात में संदेह है फिर बिना संदेह के अज्ञात ज्ञात नहीं बनता।

●

६. पशुता और मानवता

पशु, अन्ततः आदमी है और आदमी, मूलतः पशु और जानवर! पशु और जानवर में फर्क है। पशु वह है, जो पाश बद्ध है, परतंत्र है, अपनी मनमानी नहीं कर सकता और जानवर वह है, जो छुट्टल है, स्वतंत्र है, स्वेच्छाचारी है। पशु में सहज भोलापन और जानवर में चालाकी होती है। पशु के भीतर का जानवर धीरे-धीरे मरता चला जाता है और इनसान की सोहबत में रहते-रहते उसमें आदिम मानव के गुण उभरते चले जाते हैं। अतः वह पशु कम और आदमी अधिक होता चला जाता है–बाहर से रूप पशु का, भीतर से स्वरूप आदमी का। जबकि आदमी एक साथ पशु और जानवर दोनों है,-रुढ़ियों, परम्पराओं, आसक्तियों और मनोविकारों के अदृश्य पाश में बँधा होने के कारण पशु और निर्बंध, निरंकुश, चतुर, चालाक मन से शासित होने के कारण अथवा स्वेच्छाचार, हिंसा, कुकर्म, झूठ-फरेब आदि में बेहिचक उतर जाने के कारण, जानवर कि बाहर से रूप आदमी का-भीतर स्वरूप जानवर का! आदमी के भीतर का पशुत्व (बचपन का सहज भोलापन) धीरे-धीरे मरता चला जाता है और उसके परिष्कृत मुखौटे के पीछे एक खूँख्वार जानवर पनपता चला जाता है।

पशु बचपन तक जानवर, जवानी में पशु और बुढ़ापे में सच्चा मनुष्य जैसा होता है और मनुष्य बचपन में पशु, जवानी में जानवर और बुढ़ापे से मृत्यु के क्षण तक पुनः पशु जैसा हो जाता है। इसीलिए पशु सच्चा आदमी होकर मरता है फलतः आगे जन्म लेते समय से ही अपने पैरों पर खड़ा या स्वावलम्बी बनकर ही जमीन पर आता है और आदमी पशु होकर मरता है, फलतः आगे के जन्म में परोपजीवी बनकर दूसरों के हाथों से सँभाला जाता है। पशु तो बाँधे जाने के बाद सेवा, परोपकार, संतोष, वफा, ईमानदारी, आज्ञाकारिता और अनासक्त कर्म आदि मानवीय मूल्यों के सहज प्रतिपालन से मानवता की ओर बढ़ता जाता है और आदमी खुला होकर सभ्यता संस्कृति के ढोंग के नीचे पाशविक वृत्तियों की ओर सरकता जाता है। अतः पशु अदृश्य मनुष्य है और मनुष्य छिपा हुआ जानवर!

आहार, निद्रा, भय और मैथुन की समानता तथा धर्म की विशेषता बताकर मनुष्य को पशु से अलग कर दिया गया है। क्या और कैसा है यह धर्म, जो मनुष्य और पशु में विभाजक रेखा खींचता है? यह तथाकथित धर्म कहीं अपने अधर्म पर पर्दा डालने के लिए, मनुष्य की ही बनायी हुई, दिखावटी शुभ शुक्ल पक्षीय कल्पना की ऐसी चादर तो नहीं है, जिसे उसने बहुत उँचे शब्दों जैसे, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय आदि के ताने-बाने से बुन रखा है? क्योंकि देखा कुछ ऐसा गया है कि जो आदमी बहुत बड़ी-बड़ी बातें, बहुत ऊँचे आदर्श, सिद्धान्त बनाता–बघारता है, वे सिर्फ दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने के लिए ही होते है, स्वयं उन्हें आचरित नहीं कर पाता–कुछ अपवादों को छोड़कर। दूसरों के लिए बड़े-बड़े किले-महल बनाने वाले, अपने लिए झोंपड़ी भी मुश्किल से बना पाते हैं।

भीतर से अधर्म को छिपाने के लिए आदमी बाहर धर्म के नगाड़े बजाता है। सत्य पर आदमी ने शास्त्र लिख मारे हैं पर आज तक जगत् से असत्य गया नहीं, हर पल आदमी झूठ बोल रहा है। अहिंसा के बहुत गीत गाता है आदमी, और आठों याम हिंसा कर रहा है। चोरी को पाप बतानेवाला आदमी चोरी के कारण ही जी रहा है। अपरिग्रह-अपरिग्रह चिल्ला-चिल्लाकर आदमी ने इतना संग्रह कर डाला है कि चारों ओर भूख, गरीबी, बेरोजगारी,

लूट-खसोट, हिंसा और आतंक छा गये हैं। अधिक क्या, धर्म के सारे लक्षणों को कुरेद-कुरेदकर देख लीजिए, आदमी के मुँह से उनका नाम तो बड़े चटखारे के साथ सुना जा सकता है, लेकिन उनका काम किसी विरले में ही दिखायी देगा। पशु का धर्म से परिचय भी नहीं है इसीलिए अधर्म उसे छू भी नहीं पाता।

भीतर नफरत से खचाखच भरा हुआ आदमी प्रेम पर भाषण देता है। इसके लिपे पुते चोले के भीतर जो पशुता है, उसके अंगोपांग हैं–ईर्ष्या, द्वेष, शक-सन्देह, काम-क्रोध, लोभ-मोह! झाँकें पशु में, इसका नाम-निशान न मिलेगा और देखें मनुष्य को, इनसे खाली न मिलेगा। पशु अक्रोध, अशोक, निर्वैर, निष्काम और अभय का नाम है।

पशुओं की शोक-सभाएँ नहीं होतीं क्योंकि वह अशोक का जीवन्त रूप है। पशुओं के जन्म-दिन नहीं मनाये जाते क्योंकि उसे मृत्यु का भय नहीं है। पशुओं की विधान सभाएँ, संसद और मंत्रालय नहीं होते क्योंकि राजनीति ने उन्हें अनैतिक नहीं बनाया है। पशुओं ने वैज्ञानिक, आर्थिक, सामाजिक विकास नहीं किया है क्योंकि उनके द्वारा विनाश नहीं होना है। और यह आदमी विकास का बोर्ड लगाकर विनाश का सौदा बेच रहा है।

नरक के भय से पशु, पाप-पुण्य की कल्पना नहीं करते क्योंकि स्वर्ग उनके साथ लगा फिरता है। पशुओं में हिन्दू-मुसलमान, मंदिर-मस्जिद नहीं होते इसलिए वे देवताओं के अधिक निकट होते हैं। पशुओं में चोरी, चुगली, चाटुकारी नहीं इसीलिए वे वकील और पुलिस नहीं बनते। अनासक्त इतने कि स्त्री-पुत्र सब होते हुए भी इनके सर्वस्व नहीं। संपन्न इतने कि कभी कोई संग्रह नहीं। संतोषी इतने कि जो नहीं मिला, उसकी लालसा नहीं। धीर-वीर इतने कि गाली और मार का कोई प्रतिशोध नहीं।

किताबों में लिखा हुआ है कि स्वर्ग में रहनेवाले देवता धरती पर मनुष्य होने की कामना करते हैं। हमने देवता तो नहीं देखे, हाँ आदमी के बनाये हुए उनके कागज और पत्थरों के चित्र अवश्य देखे हैं। इन चित्रों में देवताओं के पास कोई मनुष्य दिखायी नहीं दिया अपितु हर देवता के पास कोई न कोई पशु या पक्षी अवंश्य है। जैसे शंकर जी के पास बैल और साँप, देवी के पास शेर, गणेश के पास चूहा, कार्तिकेय के पास मोर, विष्णु के पास गरुड़, सरस्वती के पास हंस, लक्ष्मी के पास उल्लू, इन्द्र के पास हाथी, यम के पास भैंसा, भैरव के पास कुत्ता आदि। ये पशु-पक्षी इनके वाहन हैं। आश्चर्य है कि मनुष्य को इतना चाहनेवाले देवताओं में से किसी को भी इतनी अकल न आयी कि बल-बुद्धि के खजाने इस मनुष्य को अपना वाहन बना लेता! हमें जो चीज प्रिय होती है, उसकी तस्वीर घर में टाँग लेते हैं। देवताओं को यदि मनुष्य प्रिय होता तो किसी न किसी के यहाँ इसका भी एक फोटू लगा होता? यदि किसी देवता के पास मनुष्य का कोई चित्र भी दिया है तो वह दीन-हीन हाथ जोड़े कुछ माँगते हुए भिखारियों की मुद्रा में!

लगता है देवताओं के मनुष्य होने की बात (भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात्) कहकर आदमी ने एक चालाकी और दिखायी है ताकि मनुष्य का अहंकार बराबर बना रहे और देवताओं के निकट अपने आप को बताकर वह दुनिया को ठगता रहे, लूटता रहे, दलाली करता रहे! आखिर बड़े-बड़े अफसरों के चाटुकारों की सदा से पौ बारह होती ही आयी हैं। लेकिन उसी मनुष्य के बनाये चित्रों ने उसके उक्त कथन को झूठा साबित कर दिया। देवताओं के साथ मनुष्य का चित्र बनाना वह भूल गया!

उधर पशु-पक्षियों की महत्ता देखिए कि बंदर (हनुमान) को बिना मनाए राम प्रसन्न

नहीं होते और शनि की शान्ति के लिए भी उनकी उपासना बतायी जाती है। देवी की आराधना के समय सिंह की उपेक्षा नहीं की जा सकती। गाय-बैलों के बिना धरती माता वीरान हो जाएगी। भैंस के बिना धर्मराज कैसे चल पाएँगे? यहाँ सूअर बनकर भी भगवान् आये हैं। सूअर के समान पवित्र और महान् और कौन होगा कि उसके लिए संसार का हर पदार्थ शुचि, ग्रहणीय और भोग्य है। किसी पदार्थ से उसे घृणा नहीं। घृणा तो मनुष्य की ही पैतृक चीज़ है क्योंकि इसके जैसा घिनौना प्राणी और कोई नहीं है।

जिन दैवी गुणों की प्राप्ति के लिए और उन्हें अविकृत रूप से बने रहने देने के लिए मनुष्य पूजा-साधना करता है, वे पशु में स्वभाव से ही मौजूद हैं और जो दुर्गुण पशु में कभी नहीं होते, वे मनुष्य में से निकलते नहीं। बाहर के चौपायों को जो पशु बताया जाता है, वह तो जीव-सृष्टि की एक प्रजाति है, और इसी का विकसित-परिवर्धित रूप यह मनुष्य बताया जाता है। असली पशुता तो मनुष्य के भीतर घुसी बैठी है और असली मानवता पशु के भीतर! पशु का अर्थ है बाहर के हवा-विकारों की अपने आप को हवा तक न लगने देना और विष को खाकर उसे भीतर अमृत में रूपान्तरित कर लेना तभी तो शंकर को पशुपति कहा जाता है, मनुष्य-पति नहीं।

पशु सिर्फ देता है, लेता नहीं। लेने की उसमें कामना भी नहीं और मनुष्य सदा लेने की कामना से भरा रहता है– देने के नाम पर तो वह केवल दुख देता है। पशुओं को पालकर भी आदमी उनके गुणों को नहीं पाल पाता। घास-फूँस खाकर पशु मनुष्य से कई गुना अधिक ताकतवर है और पशुओं को भी खा जानेवाला तथा विटामिनों भरा भोजन खानेवाला मनुष्य सदा रुग्ण है–तन से भी और मन से भी। पशु कभी स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय नहीं करता, फिर भी सदा स्वस्थ है। किसी को मूर्ख कहने के लिए, किसी को गाली देने के लिए या नफरत व्यक्त करने के लिए आदमी ने पशु शब्द चुन रखा है कि वह तो निरा पशु है, बिल्कुल बैल है, पूरा गधा है कि उल्लू है। यानी आदमी के हिसाब से तिरस्कार, उपेक्षा या अज्ञान का नाम पशु है।

किसान की खेती, व्यापारी का व्यापार और गृहस्थ की सम्पन्नता पशुओं से है। मशीनों, वाहनों और इन्जनों की शक्ति की नाप (हॉर्स पावर) पशुओं से है। मनुष्य का स्वास्थ्य, बल-बुद्धि, तेज-ओज सब पशुओं से है। आदमी पशुओं को पालने का दम्भ पाल बैठा है– पालता कहाँ है उन्हें, केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन मानकर रखता है। पालता तो पशु है, मनुष्य को–बैल अपनी कमाई से, गधे-घोड़े, ऊँट-हाथी अपनी पीठ पर लादकर, गाय-भैंस अपना दूध पिलाकर, बकरे अपना मांस खिलाकर और खरगोश अपनी आँख देकर! पशु न होते तो सारे देवता पैदल भागे फिरते। पशु पक्षी न होते तो कवियों को रूप के उपमान न मिलते। पशुपक्षी न होते तो संगीत और वाद्य यंत्र न होते। पशु न होते तो विज्ञान और चिकित्सा के विभिन्न प्रयोग न होते। पशु न होते तो व्रत, पर्व, त्योहार फीके होते। पशु न होते तो अस्त्र, ढाल, कवच, सिरस्त्राण और पदत्राण न होते। पशु न होते तो ज़मीन से पानी न निकल पाता। पशु न होते तो शाकाहार-मांसाहार न होता और भोजन न होता तो मनुष्य न होता। आदमी बना भी पशु से, पला भी पशु से और बढ़ा भी पशु से!

वैज्ञानिक बहुत पहले कह चुके हैं कि मनुष्य पशु के विकास का अन्तिम चरण है। एक वैज्ञानिक का कथन है कि वनमानुष आदमी के पिता, दूध देने वाले पशु आदमी के दादा, छिपकली और केंकड़े अदमी के परदादा, कछुए और साँप आदमी के सड़दादा और मछलियाँ

आदमी के सड़दादाओं के सड़दादा हैं। इसी बात को हमारा धर्म और दर्शन दूसरे तरीके से कहता है कि पहले भगवान् का मत्स्यावतार हुआ, फिर कच्छप, फिर शूकर, फिर नृसिंह, फिर वामन और अन्त में पूर्ण मनुष्य। इन दोनों मतों में बहस के लिए काफी गुंजाइश है, लेकिन जो देखा नहीं, उस पर बहस करके भी क्या मिलेगा?

वैसे मनुष्य को गौर से देखा जाए तो उसमें पशु के आदिम लक्षण मौजूद हैं। पशु चारों हाथ-पैरों से चलता है और मनुष्य भी बचपन में चारों से चलता है। बाद में बच्चा जब दो पैरों पर खड़ा हो जाता है, तब भी उसकी चारों से चलने की पुरानी आदत नहीं जाती क्योंकि पैर तो जमीन पर चलते हैं, लेकिन उनके साथ, हाथ हवा में क्यों आगे-पीछे चलते हैं? दायाँ पैर आगे बढ़ता है तो बायाँ हाथ उसके साथ बढ जाता है और बायाँ पैर आगे बढ़ता है तो दायाँ हाथ आगे बढ़ जाता है। आखिर ऐसा क्यों होता है? निश्चित यह पशु की पुरानी आदत है। बच्चों का दरवाजे, खिडकियों पर चढना, पेड़ों और चहारदीवारियों पर उछलकूद करना आदि बातों के पीछे वानरी वृत्ति मौजूद है। पशुओं में भय, लोभ, कपट, काम और द्वेष नहीं होता और बहुत छोटा बच्चा भी इन विकारों से मुक्त होता है। अत: मनुष्य पशु का नया संस्करण है।

भाषा और कृत्रिमता मनुष्य की पहचान है और शब्दहीनता तथा मौलिकता पशु का अभिज्ञान है। भाषा को कितना ही दैवी शक्ति बगैरह बताया गया हो, लेकिन कुछ अपवादों को छोड़कर एक बात तो तय है कि यह मनुष्य की भाषा, सत्य की अभिव्यक्ति के लिए नहीं, झूठ को सत्य साबित करने के लिए प्रयुक्त की जाती है। एक-दूसरे को मूर्ख बनाने का, धोखा देने का भाषा से अधिक सफल साधन और कोई नहीं है। इसीलिए धोखेबाज, चतुर, चालाक, कपटी, विश्वासघाती पशु नहीं, मनुष्य है। पशु जो है, वही है और मनुष्य जो नहीं है, वह है।

घमंड आदमी का अलंकार है। घमंड भरी बातें तभी करता है आदमी, जब वह जान जाता है कि सामान्य रहने पर मुझे कोई पूछता नहीं, मेरा वजन औरों की तुलना में कम है या मैं स्वयं में खोखला हूँ। ऐसे में यदि मैं बड़ी-बड़ी बातें न करूँ तो कोई मुझे घास न डालेगा। इसीलिए कभी रूप पर, कभी धन पर और कभी अपने ज्ञान पर आदमी घमंड करता है। रूप का गर्व उसे तनकर चलाता है। धन का घमंड उसे अकड़ना सिखाता है और ज्ञान का गर्व उसे बकना सिखाता है। सूक्ष्म अहंकार का स्थूल और निकृष्ट रूप घमंड है।

रूप का घमंड आदमी को इसलिए है कि उसे अपनी छिपी हुई या भविष्य में आने वाली कुरूपता का अहसास है। इसीलिए वह अपने आप को कीमती वस्त्रों से ढके रहता है। धन का घमंड इसलिए है कि वह भीतर अभाव से भरा है और हर समय एक भय बना रहता है कि मैं गरीब न हो जाऊँ। इसीलिए वह सदा धन के संग्रह में लगा रहता है। और ज्ञान का घमंड इसलिए है आदमी को कि अन्तर में वह जानता है कि मैं कुछ नहीं जानता इसीलिए वह अपनी झूठी विज्ञप्ति करता है। जबकि पशु में न तो रूप का घमंड है क्योंकि वह सर्वांग सुन्दर है, अपनी कुरूपता को ढकता नहीं। उसे धन का गर्व नहीं क्योंकि वह स्वयं ही धन है– 'गोधन गजधन वाजिधन।' उसे ज्ञान का गर्व नहीं क्योंकि ज्ञान के पहले लक्षण 'मौन' का वह जीता जागता रूप है। "मौनं ज्ञानस्य लक्षणम्"

कालिदास ने पुराने यशस्वी रघुवंशी नरेशों के लिए कहा था "प्रजायै गृह मेधिनाम्" कि केवल संतानोत्पत्ति के लिए ही वे गृहस्थ होते थे अर्थात् केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही उनमें संभोग की इच्छा पैदा होती थी, वासना के लिए नहीं। रही होगी ऐसी बात उन लोगों

में, किसने देखा? आज तो मनुष्य का परम धर्म, कर्म, मनोरंजन, प्रेम और तनाव-मुक्ति का साधन केवल सैक्स है या हिंसा। सन्तान तो जरा सी भूल का परिणाम है। जबरदस्ती टपक पड़ती है। आज आदमी संतान पर रोक लगाने के लिए और वासना को बढाने के लिए नित नये गर्भ-निरोध के साधन अपना रहा है। वेश्यावृत्ति बढ़ रही है। पुरुष स्त्री बन रहा है। मनुष्य पर तो कालिदास जी का कथन फ़ेल हो गया पर पशु इसका पूरी तरह से निर्वहण करते रहे हैं और कर रहे हैं क्योंकि वे किसी विशेष मौसम या ऋतु में ही, केवल संतान के लिए परस्पर संपर्क करते हैं। उस समय के बीत जाने पर या गर्भ ठहर जाने पर, नर-मादा पास रहते हुए भी, वासना उनके पास नहीं आती। जबकि यह आदमी प्रसव काल तक भी पीछा नहीं छोड़ता। कुत्तों से भी गया गुजरा है यह। आदमी की वासना की आग कोई सामान्य नहीं, वडवाग्नि है, जो सागरों को जलाकर भी बुझती नहीं और पशुओं में यह आग जठराग्नि है, जो स्वास्थ्य हेतु ही खाये जानेवाले भोजन को पचाने के लिए नियत समय पर पैदा होती है। काश! यह आदमी पशु से कुछ सीख पाता!

मनुष्य जब पहली बार दूसरे मनुष्य के संपर्क में आता है तो बड़ा प्रेमपूर्ण, बड़ा भाव भरा, बड़ा विनम्र और सद् व्यवहार संपन्न दिखायी देता है, लेकिन ज्यों-ज्यों घनिष्टता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों दूरियाँ मिटती जाती हैं। मनुष्य को मनुष्य के साथ रहने की अवधि जितनी लम्बी होती जाती है, उतना ही अपरिचय बड़ा होता जाता है; कपट पनपता जाता है; दुराव बनता जाता है; संदेह उभरता जाता है। जबकि एक पशु का नये पशु से पहली बार संपर्क होता है तो थोड़ी झौरा-झौरी, थोड़ी घुन्नाहट-भन्नाहट, थोड़ी भिड़ा-भिड़ी अवश्य होती है, लेकिन दो चार दिन साथ रहने के बाद ऐसी घनिष्टता होती है कि अपरिचय शब्द का नाम दुनिया से मिट जाए; ऐसा प्रेम होता है कि शत्रुता को मुँह छिपाने को कहीं जगह न मिले, ऐसी एकता होती है कि भेद-भाव से भरा यह आदमी चुल्लू भर पानी में डूब कर मर जाए।।



७. शान्ति

भोजन वस्त्र और मकान की तरह शान्ति भी आदमी की अनिवार्य आवश्यकता है। भोजन आदि तीनों तो फिर भी सबको मिल जाते हैं और कुछ समय के लिए सुख-संतोष देते हैं; लेकिन शान्ति सबको नहीं मिलती। जिसे हम आमतौर पर शान्ति कहते हैं, वह शान्ति नहीं, अशान्ति की विश्राम-अवस्था है। ये सारी चीजें व्यवस्था पर आधृत हैं और व्यवस्था के साथ ही अशान्ति है क्योंकि सारी व्यवस्थाएँ मन से जुड़ी हैं और मन अशान्ति का केन्द्र है। शान्ति मन की व्यवस्था नहीं, आत्मा की मुक्तावस्था है।

शान्ति न तो परिस्थिति है, न विचार है और न मनोविकार है–अपितु आत्मा का स्वभाव है। इसे न तो देखा जा सकता है, न छुआ जा सकता है, सिर्फ अनुभव किया जा सकता है। निरन्तर उद्वेलित होनेवाले इस संसार-सागर में पनडुब्बी के समान है शान्ति। संसार का स्वभाव है, उद्वेलन और पनडुब्बी का स्वभाव है, उस उद्वेलन से अप्रभावित रहकर निरंतर भीतर ही भीतर बहते रहना, डूबे रहने पर भी न डूबना। डूबे हुए को डूबने का भय नहीं होता। इसी भय से मुक्त मन की द्वन्द्वातीत अप्रभावशील अवस्था शान्ति है।

इसका अनुभव कुछ–कुछ ऐसा है, जैसे बाहर की लू–लपटों का सताया हुआ कोई व्यक्ति जाकर किसी वातानुकूलित कक्ष में बैठ जाए, जहाँ न तो हवा के तेज झोंकों से वस्त्र लहराते हों, न बाल हिलते हों, न कोई शोरगुल हो अपितु एक शीतल–शीतल शान्त लहर सी तन–मन में समायी चली जाती हो–धीरे–धीरे एक प्यारी नींद सी छायी चली जाती हो पर उस नींद में बेहोशी न हो–जागरण हो। हवाई सपने न हों,–विवेक का दीया जलता हो, आलस्य न हो, चेतना जागी हो।

इस संसार में शान्ति नहीं है, बस इसकी एक याद है, अशान्त आदमी को आयी हुई। मैं इतना अशान्त हो गया हूँ कि शान्ति याद आने लगी है। मैं भीड़ से इतना घबरा गया हूँ कि एकान्त की याद आने लगी है। शान्ति पर लिखना मेरा दम्भ है, क्योंकि लिखना ही अशान्ति के कारण है। मैं शान्ति पर सोच रहा हूँ, विचार कर रहा हूँ और सोच–विचार करना अशान्त आदमी का लक्षण है। जिस दिन शान्ति उतरेगी, उस दिन लिखना–पढ़ना, सोच–विचार–सब बन्द हो जाएँगे।इसलिए मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, अशान्त होकर शान्ति की याद कर रहा हूँ अथवा अशान्ति पर ही लिख रहा हूँ। विचार कर रहा हूँ और–

जब तक विचार हैं, तब तक इच्छाएँ हैं, जब तक इच्छाएँ हैं, तब तक–दौड़ है, जब तक दौड़ है, तब तक असंतोष है, जब तक असंतोष है, तब तक तनाव और क्रोध है, जब तक क्रोध है, तब तक उद्वेग, उन्माद, भय, आतंक, छीना-झपटी, हत्या, चोरी, अलगाव हैं और जब तक ये हैं तब तक अशान्ति है, शान्ति नहीं। शान्ति के जितने प्रयास हैं, सब अशान्ति पैदा कर जाते हैं। खूब थक जाने के बाद, जो विश्राम मिलता है, उससे शान्ति की कल्पना की जा सकती है। खूब प्यास के बाद, जो पानी गले के नीचे उतरता है, उससे शान्ति का अहसास किया जा सकता है और खूब अशान्त हो जाने के बाद, जिसकी याद आती है, उसे शान्ति की पूर्वावस्था अथवा झलक समझा जा सकता है। जिस प्रकार पूजा–प्रार्थना की बात करने से भक्ति नहीं होती, प्रेम पर लिखने पढ़ने से प्रेम नहीं होता, उसी प्रकार शान्ति पर सोचने–विचारने से शान्ति नहीं होती। शान्ति बुद्धि की खुजलाहट नहीं, हृदय की मदिर–

मधुर सुन्नावस्था है।

शान्ति के संदर्भ में कई शब्दों का प्रचलन है, जिनको शान्ति समझ लिया जाता है, लेकिन वे शान्ति की पूरी व्यंजना नहीं करते। जैसे चुप्पी। चुप्पी वाचिक खामोशी है। चुप्पी में आदमी बहुत अशांत होता है। एकाकीपन को छोड़कर किसी के सामने चुप्पी साध लेने के कई कारण हो सकते हैं, जैसे या तो किसी की बात का जवाब न दिया जा रहा हो, या अतिशय दुर्बलता हो, या भारी पीड़ा हो, या चोरी पकड़ी गयी हो, या सवल से सामना हो गया हो, या बेहोशी हो गयी हो।–इन अवस्थाओं में बाहर से कितनी ही चुप्पी दिखायी दे, भीतर कल्पना की दौड़, विचारों की उठा-पटक, मनोविकारों का उद्वेलन होता रहता है। अतः यह चुप्पी शान्ति नहीं है। यह ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति में विराम है।

दुसरी बात है 'नीरवता', यह भौतिक कोलाहल के न होने की स्थिति है कि न तो पशुओं की आवाजें हों, न पक्षियों का कलरव, न हवाओं की सरसराहट हो न बिजली की कड़क, न गुफ्तगुओं की खुसुर-फुसुर हो और न वाद-विवाद का बितंडा–यानी भीतर-भीतर सब कुछ हो पर बाहर पत्ता भी न खड़कता हो–यह नीरवता है।

शोर-सराबे या कोलाहल को बंद करने के लिए अमूमन कह दिया जाता है कि शान्त रहिए। शान्ति कोलाहल का विलोम नहीं है। कोलाहल का विलोम नीरवता है। शान्ति को मौन का पर्याय कहा जा सकता है। मौन अमन की स्थिति है। अर्थात् जब विचारों की भीड़, भावों के उद्वेलन, ऊहापोहों की-कशमकश, सुखदुख की विचलन, अध्ययन-चिन्तन-श्रवण-कथन आदि से उत्पन्न उत्तेजना, पूजा-पाठ-भजन-कीर्तन आदि से उत्थित भावुकतामयी संवेदना, आवा-गमन-तीर्थ-मनोरंजन आदि से पैदा भीतरी अराजकता आदि सब किसी भी प्रकार की विचलन पैदा नहीं करते, वहाँ शन्ति का डेरा दिखायी देता है।

न सुख की प्राप्ति में शान्ति है न दुख से छुटकारे में क्योंकि ये दोनों ही-उद्विग्न करते हैं। न संयोग में शान्ति है न वियोग में क्योंकि दोनों में ही चेतना परकेन्द्रित होती है। अपने आप में डूबकर उस तल पर पहुँच जाना शान्ति में प्रविष्ट हो जाना है, जहाँ सब कुछ याद होते हुए भी कोई स्मृति का झोंका झकझोरता नहीं, बल्कि एक अविरल आनन्द की बरसात होती है।

तात्पर्य यह कि मन के पार जाकर आत्मा में अधिष्ठित हो जाने पर ही सच्ची शान्ति का अनुभव किया जा सकता है, इसके पूर्व नहीं। किसी जिम्मेवारी, किसी समस्या अथवा किसी प्राप्ति की इच्छा पैदा होते ही आदमी सोचता है कि बस यह पूरी हो जाए तो फिर शान्ति से रहेंगे, लेकिन एक के निस्तार के बाद दूसरी का विस्तार हो जाता है और शान्ति आकाश–कुसुम ही बनी रहती है। दो तरह का हमारा जीवन है, एक व्यावहारिक या वास्तविक और दूसरा, सैद्धान्तिक या बनावटी और इन्हीं आधारों पर दो ही तरह के हमारे भाव, विचार और क्रियाएँ भी हैं–ठीक जैसे हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और! शान्ति दूसरे पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है–केवल एक सैद्धान्तिक बात, एक कोरा शब्द है शान्ति, हाथी के दिखायी देनेवाले दाँत की तरह! असली काम तो भीतर के रोंथा–राँथी करनेवाले अशान्ति के दाँत ही करते हैं।

ऐसी ही, दो स्थितियों में हम रहते हैं, एक–कलह, द्वन्द्व, ऊहापोह, संघर्ष, तनाव और युद्ध की, चाहे भीतर की हो, चाहे बाहर की और दूसरी यदि ये नहीं तो इनकी तैयारी की है। शान्ति की कोई स्थिति नहीं दिखायी देती। जिन्हें हम शान्ति के क्षण कहते हैं, वे अशान्ति से थककर फिर अशान्ति के लिए शक्ति–संचय करने के क्षण होते हैं। जब–जब मन में झाँक

कर देखा है, तब–तब यही दिखायी दिया है कि यदि हमारे होंठ बन्द हैं तो भीतर बोलने की तैयारी हो रही होती है, यदि हम चुपचाप किसी की बात सुन रहे हैं तो भीतर प्रतिक्रिया हिलाये डाल रही होती है, यदि हम बैठे हैं तो चलने के मंसूबे बन रहे हैं। जब हम कुछ नहीं कर रहे होते तो सोचते हैं, सोचते नहीं तो सोते हैं, सोते में फिर सपने शुरू हो जाते हैं और सपनों में फिर वही अशान्ति। कहने का तात्पर्य यह कि किसी भी क्षण आदमी शून्य नहीं है और शान्ति, शून्य की स्थिति है। यदि कभी यह स्थिति आती भी है तो वह गहन निद्रा में आती है, जिसका हमें कोई पता नहीं होता और इन्हीं कतिपय क्षणों में हमें इतनी ऊर्जा मिल जाती है कि जीवन भर हम अशान्ति को झेलते रहते हैं।

शान्ति को यदि शब्दों में परिभाषित किया जाए तो एक ही परिभाषा बनती है 'अशान्ति'। शान्ति का एक ही अर्थ है–'अशान्ति।' अशान्ति का पर्याय है, संसार और सांसारिकता। इसीलिए पंत जी ने कहा होगा कि "शान्ति सुख है उस पार।" क्योंकि इसपार तो घुटन है, टूटन है, तनाव है, होड़ है, ईर्ष्या है, आक्रोश है, षडयन्त्र है, आतंक है, युद्ध है– और साथ है खंडित व्यक्तित्व! फलतः हमारा आनन्द मर गया है, उल्लास सूख गया है, शान्ति दब गयी है।

जीवन और जगत् में पलायनवादिता को कायरता समझा जाता है और शान्ति का हर खोजी यहाँ पलायनवादी कहा गया है; परन्तु जहाँ तक मैं सोचता हूँ, इन शब्दों का पूर्ण अर्थ जीवन में प्रतिफलित नहीं होता। इन शब्दों का यही अर्थ तो किया जाता है कि किसी परिस्थिति का सामना न कर उससे डर कर भाग खड़ा होना। यह अर्थ गलत है। कोई कहाँ जाएगा भागकर? बाहर से भाग सकता है आदमी, भीतर से कहाँ भागेगा? परिस्थिति को छोड़ा जा सकता है, स्थिति को कैसे छोड़ा जा सकता है? पलायनवादिता का सही अर्थ है,– मन को अशान्त करनेवाली परिस्थितियों के उपचारार्थ शान्त करनेवाली स्थितियों की खोज के प्रयास करना। और अन्दरूनी खोज के लिए कुछ समय के लिए बाहर को तो छोड़ना ही पड़ेगा–जैसे बुद्ध को छोड़ना पड़ा, महावीर को छोड़ना पड़ा, संत-भक्त कवियों को छोड़ना पड़ा और छायावादियों को कहना पड़ा कि, "ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे। .... तजि कोलाहल की अवतीरें।" लेकिन आलोचकों ने इसे पलायनवादिता बता दिया, जबकि यही पलायनवादी एक दिन वहाँ जाकर स्थिर हो गया जहाँ, "समरस थे जड़ और चेतन, आनन्द अखंड घना था।"

यह पलायनवादिता नहीं, भीषण अशान्ति से शाश्वत शान्ति में पहुँच जाने की छलाँग है; घुटन भरे कोलाहल से प्रकृति में पहुँच जाने की छलाँग है और भौतिकता के समुद्र-मंथन से शान्ति के अमृत को निकालने का प्रयास है। जो उन्होंने निकाला, पाया, चखा और अमर हो गये। सच पूछा जाए तो यह पलायन, भागना नहीं है, वहीं का वहीं जागना है। क्षीर में से नीर का त्यागना है।

जागने पर ही मूल दिखायी देता है, असल दिखायी देता है। आदमी जब तक मूल को भूला रहता है, तब तक वह अशान्त होकर भटकता रहता है। मूल कहाँ है? जिसे देखकर, जिसके समीप जाकर, जिसे छूकर, जिसे पीकर हमें आत्मानन्द की अनुभूति होने लगे, हमारी संकीर्णता का घेरा टूटने लगे, हमारा प्रेम दिव्यता की ओर जाने लगे हमारी आत्मा का बौनापन छटने लगे और हृदय का विस्तार होने लगे,–वहीं हमारा मूल है और उस मूल के पाँच नाम हैं,– धरती, जल, वायु, अग्नि और आकाश। ये ही हमारे निर्माता हैं। हमारे भीतर भी ये

हैं और बाहर भी येही हैं। इनके भीतर बाहर के मेल से शान्ति पैदा होती है।

कभी-कभी कोलाहल या सारी सुविधाओं से युक्त घरों को छोड़, हमारा मन खेतों, जंगलों, नदी-पहाड़ों की ओर क्यों भागता है? बिजली की चम-चमाती रोशनी को छोड़ क्यों हमें चाँदनी में नहायी रातें अच्छी लगती हैं? क्यों हम कभी-कभी अपने अति प्रिय स्वजनों से भी ऊबकर एकान्त चाहते हैं? हमारी यह चाहत हमें मूल की ओर खींचती है। हमारा आन्तरिक संबंध इस बनावटी दुनिया से नहीं है, उसी वास्तविक दुनिया से है, जिसे प्रकृति कहते हैं, पंचतत्त्व कहते हैं। इसीलिए प्रकृति के साथ हमारी उदासी, निराशा, कुंठा, तनाव आदि दूर हो जाते हैं और उस भावदशा का अनुभव होता है, जिसे शान्ति कहते हैं।

हमारी रचना में मिट्टी, जल, वायु, अग्नि और आकाश- इन पाँचों तत्त्वों का बराबर का सहयोग है, इसीलिए हम इनके बिना एक पल नहीं रह सकते। हमारे ऋषियों ने इन्हीं में असली शान्ति का निवास बताया था कि, "पृथ्वी शान्तिः, अन्तरिक्षः शान्तिः, आपः शान्तिः, वनस्पतयः शान्तिः, अग्निः शान्तिः।"

मिट्टी की क्या अहमियत है– देखें जरा डनलप के गद्दों पर महीने भर रहकर कि पाँव धरती पर न आए, वहीं सब व्यवस्था हो तो पता चलेगा कि मिट्टी के बिना सारा शरीर मिट्टी हो गया। दस दिन तक शरीर पर जल की एक बूँद न जाने दें, चाहे कितना ही लिम्का, माजा पीएँ या चन्दन-पाउडर से नहाएँ मालूम हो जाएगा कि जल बिना जलजला आ गया! प्राकृतिक हवा के बिना कितनी शान्ति मिलती है, देखें जरा शीशे के मकान में बन्द होकर– पता भी नहीं चलेगा कि सब कुछ हवा हो गया! आग और आकाश के संपर्क के बिना जीकर तो दिखाए कोई, दुनिया जान जाएगी कि सब कुछ खाक होकर आकाश हो गया!! सुख, चैन, राहत, सुकून, आनन्द आदि सब ऐसे बल्ब हैं, जिनमें शान्ति की विद्युत्-धारा प्रवाहित न हो तो प्रकाश नहीं देते।

शान्ति को उपलब्ध व्यक्ति के ऊपर क्रोध की आग भी आये तो उसे जलाती नहीं; लोभ का पानी आये तो गलाता-पिघलाता नहीं; निन्दा-प्रशंसाओं की हवा आये तो उसे सुखाती-हिलाती नहीं; दुख की धूप आये तो तपाती नहीं; सुख की छाँह आये तो सुलाती नहीं। वह कमल के पत्ते की मिसाल को जीवित कर देता है कि बूँद गिरती है और ढुलक जाती है पर कोई आर्द्रता नहीं छोड़ती।

कहा जाता है कि 'एक चुप सौ को हराता है।' यह स्पष्ट हो गया है कि 'चुप्पी' शान्ति नहीं है– शान्ति की पूर्वावस्था है और जब इस पूर्वावस्था के सामने आकर ही, सैकड़ों हल्ला मचानेवाले अपना माथा ठोककर चुप हो जाते हैं तो उस पूर्णावस्था (शान्ति) को देखकर तो वही हाल होता होगा, जो कृष्ण की वंशी बजते ही सारी प्रकृति का हो जाता था कि–

'जमुना नीर-प्रवाह थकित भयौ ससि थकि निसि न घटाई।"

मनुष्य शान्त होना चाहता ही नहीं। वह चाहे भी तो मन उसे शान्त नहीं होने देता क्योंकि अशान्ति मन का सबसे बड़ा सुख है। जब-जब मनुष्य शान्त होने का प्रयास करता है तब-तब यह मन अतीत की कोई ऐसी उद्विग्नकारी स्मृति, वर्तमान की कोई चिन्ता या भविष्य की कोई आशंका लेकर खड़ा हो जाता है कि न चाहते हुए भी आदमी उसी छाप में छप जाता है, फलतः कभी पश्चात्ताप, कभी क्रोध, कभी ईर्ष्या, कभी संदेह उसे अशान्त कर देते हैं। अशान्त आदमी स्वयं तो अशान्त होता ही है वह दूसरों को भी शान्ति से नहीं रहने देना चाहता। उससे कोई न बोलना चाहे तो वह बुलवाने की तरकीबें खोजता है।

कोई न लड़े तो लड़ने के बहाने ढूँढ़ता है। कोई सो रहा हो तो जगाने के लिए खटर-पटर करता फिरता है। उसकी ओर कोई ध्यान न दे रहा हो तो चीजों की उठापटक करता है। व्यंग्यों और अन्योक्तियों की भाषा में अनुकूल बातों का उत्तर भी इस रूप में देता है कि सामने वाला चिढ़े, कुढ़े, लड़े और अशान्त हो जाए।

प्रेमहीन व्यक्ति अशान्त होता है फलतः उसे प्रेम का व्यवहार कपट लगता है। रुग्ण व्यक्ति अशान्त होता है, फलतः उसे दूसरों का स्वास्थ्य आत्म हत्या-कारक लगता है। शक्की आदमी अशान्त होता है फलतः उसकी दृष्टि सब कुछ उल्टा देखती है। कमजोर आदमी अशान्त होता है फलतः वह रूप-सौन्दर्य का निन्दक हो जाता है। कर्महीन व्यक्ति अशान्त होता है फलतः कर्मशील उसकी आलोचना के पात्र हो जाते हैं। परतन्त्रता अशान्ति की माता है। राजनीति अशान्ति की मौसी है। स्पर्धा, होड़, ईर्ष्या उसकी सखी-सहेलियाँ हैं। जो इनसे विरत हो, वह शान्ति का दूत हो जाता है।



८. प्रेम

शान्ति पर बहुत सोचा, लिखा भी; लेकिन यह सोच-विचार , यह लेखन सब कुछ एक कल्पना की लहर सी आयी, कुछ देर ठहरी और फिर हवा हो गयी, पर, "मैं 'जाँ ही ढूँढ़ता तेरी महफिल में रह गया।" शान्ति का अता-पता न लगा। अशान्ति थी और वही रह गयी। फिर से कहूँ कि कुछ अपवादों को छोड़कर, सांसारिक व्यक्ति के लिए जैसे शान्ति काल्पनिक शब्द है, वैसे ही प्रेम काल्पनिक फूल है। जब तक व्यक्ति वास्तविक शान्ति को उपलब्ध न हो जाए, तब तक वह वास्तविक प्रेम को भी नहीं जान सकता। प्रेम शान्ति की लता का फूल है। न तो शान्ति का संबंध मन से है और न प्रेम का। शान्ति आत्मा का बिछौना है और प्रेम उसका ओढ़ना। और क्या हम जानते हैं कि आत्मा क्या है? फिर उसका ओढ़ना और बिछौना! सब बातें हैं, तर्क हैं, ऊहा हैं। ऐसे ही प्रेम है, सिर्फ एक शब्द!! न जिसके वास्तविक अर्थ का पता है और न प्रयोग का!

प्रेम क्या है? यह मेरा मुझसे प्रश्न है और इस प्रश्न में से एक और ऊटपटाँग प्रश्न उपजा है कि 'वृक्ष' क्या है।?' क्या किसी ने वृक्ष देखा है? सब हाँ कह देंगे! पर यह झूठ है। एक आकार है, जिसकी जड़ हमने देखी है, तना, शाखएँ, फूल-पत्ती हमने देखी हैं और इन्हीं के सामूहिक रूप को हम वृक्ष कहते हैं। पर वृक्ष फिर भी अनदेखा है, फिर भी अनजाना है। ऐसे ही प्रेम है कि कुछ अनुरक्ति, कुछ तड़प, कुछ आकर्षण, कुछ आहें, कुछ गीत, कुछ मधुर शब्द, कुछ तारीफें, कुछ चूमा-चाटी, कुछ लिपट-झपट और अन्ततोगत्वा 'बोल बम' इस संसार के व्यवहार में इसी कबाड़खाने का नाम प्रेम है। आदमी जिस चीज को नहीं जानता, उसके विषय में बातें बहुत करता है। प्रेम, आत्मा-परमात्मा आदि विषय आदमी के लिए चना-चबैना हैं। प्रेम की परिभाषा वृक्ष है, काश! मैं वृक्ष होता तो प्रेम को जान भले ही न पाता, पर प्रेम होकर दिखा देता कि प्रेम कैसा होता है।

मेरे ख्याल से जिस चीज का इस्तेमाल बहुत ज्यादा होने लगता है महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, उसकी किस्म इतनी घटिया, बेहूदा और वाहियात हो जाती है कि इस्तेमाल करते हुए भी उसकी अहमियत नहीं होती। जैसे 'रुपया' कभी 'रूप' (चाँदी) का बनता था, जिसे तोड़ो तो चाँदी, जलाओ-गलाओ तो चाँदी। यानी सब तरह चाँदी ही चाँदी; पर फिर वह लोहे का बना फिर कागज का हो गया। नाम 'रुपया (चाँदी का) और चीज़ कागज की, जिसे फाड़ दो, जला दो तो दो कौड़ी का कचरा। किसी की 'पैरॉडी' याद आती है, कि "बड़ा शोर सुनते थे हाथी की दुम का, देखा तो फुट भर की रस्सी बँधी थी।।" इस तथाकथित प्रेम का अनुभव भी कुछ ऐसे ही है, नाम कुछ, अंजाम कुछ!

प्रेम शब्द ठीक कैप्सूल के उस खोल की तरह लगता है, जो ऊपर से बड़ा रंगीन और रसीला दिखायी देता है, लेकिन उसके अन्दर देखा जाए तो स्वार्थ, भय, लोभ, वासना, घृणा, क्रूरता, परतन्त्रता, धोखा, दुराव आदि का चूरा भरा मिलता है। इसे बोलने से तो ऐसा लगता है कि इस कैप्सूल को निगलकर विषाद, तनहाई आदि का रोग दूर होकर आनन्द और सुख का स्वास्थ्य उपलब्ध हो जाएगा– लेकिन जब इसे खा लेता है आदमी तो सूरदास का यह कथन याद आये बिना नहीं रहता कि "प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।" क्योंकि, प्रेम किया जाता है सुख के लिए, मिलता है दुख। किया जाता है मिलन के लिए, बढ़ जाती

हैं, दूरियाँ। किया जाता है स्वतन्त्रता के लिए, लग जाती हैं, बेड़ियाँ। किया जाता है विश्वास से, घेर लेते हैं शक-सन्देह।

कुछ बातों के अर्थ इतने गहरे होते हैं कि उनके अर्थ तक पहुँचते–पहुँचते आदमी अर्थहीन हो जाता है। अर्थ केवल मन की तसल्ली का खिलौना है। बहुत ठीक कहा कबीर ने एक स्थान पर कि "प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाइ।" कि प्रेम कोई भौतिक वस्तु नहीं, जो किसी खेत में गाजर–मूली की तरह पैदा होती हो और हाट बाजारों में बिकती हो, जिसको जब जो चाहे खरीद–फरोख्त कर ले । यह प्रेम दिव्य है, ईश्वरीय है, जो सबके ऊपर बराबर बरसता है धूप, चाँदनी की तरह, हवा–पानी की तरह! लेकिन "जाने कौन बहति बयारि बरसाने में?" पता नहीं इस संसार और मानव समाज में कौन सी ऐसी हवा बहती है कि जिसके लगते ही उद्धव के ज्ञान की तरह कबीर वाले प्रेम का रंग फक हो जाता है। कि दिखायी देता है, सफेद–निचोड़ो तो रंग निकलता है, काला! दिखायी देता है, ऐवरैस्ट सा ऊँचा,–चढो तो सरक जाते हैं, खाई में!! क्या कारण है?

कारण भी शायद कबीर ही पैदा कर गये, प्रेम को डिबिया में बन्द करके! दूसरे स्थान पर वे कहते हैं,

नैना अन्तर आव तू पलक झाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखूँ और को ना तुझे देखन देंउँ।।

हद है। यह प्रेम है कि हवालात की कोठरी कि जहाँ किसी के मिलने-देखने पर भी निषेधाज्ञा लागू कर दी जाए। यही भावना संसार के पति–पत्नियों और प्रेमी–प्रेमिकाओं में मिलती है, लेकिन कबीर के कथन से कुछ अन्तर के साथ कि यहाँ प्रिय पर तो पूरी बन्दी–पाबन्दी लगा देते हैं प्रेमी, और अपने भीतर इसे बदल लेते हैं–ऐसे कि "मैं तो देखूँ और को पर तुझे न देखन देंउँ।"

यदि यही प्रेम है तो फिर हिंसा, क्रूरता, एकाधिकार, तानाशाही, परतन्त्रता क्या होगी? हमारे तथाकथित प्रेम का प्रतिफलन इन्हीं तत्त्वों में होता है। उसे हमने सीमाओं में कैद कर दिया है, मर्यादाओं में बाँध दिया है, संबंधों के बंधनों में जकड़ दिया है, लेकिन स्वयं हम मर्यादा हीन और निर्बन्ध रहना चाहते हैं। यह पुरुष समाज की चालाकी है। दूसरों के द्वारा किये जानेवाला प्रेम हमें पाप दिखायी देता है और अपना प्रेम पुण्य।

वैसे इस तथाकथित प्रेम और पाप दोनों की प्रवृत्तियाँ बहुत कुछ समता रखती हैं, क्योंकि प्रेम भी छिपकर और छिपाकर किया जाता है और पाप भी। दोनों में आदमी को एक ही डर होता है कि कोई देखेगा तो क्या कहेगा? और देख लिये जाने पर पाप तो यहाँ निन्दनीय होता ही है, देखे जाने पर यहाँ प्रेम को भी काला मुहँ कर गधे पर बिठाकर घुमाया जाता है। प्रेम और पाप तभी तक आदमी को तुष्ट करते है, जब तक कि वे छिपे रहते हैं, खुल जाने पर दोनों में आदमी बेनूर हो जाता है। प्रेम–प्यार आदि शब्दों को बोलने में भी आदमी हिचकता है। लगता है प्रेम पाप का बाप है। अति की पाबन्दी ने यह संबंध जोड़ा है। प्रेम की फलरिया नहीं घुलतीं और बदबू के भभूके छूटने लगते हैं। हमारा यह तथाकथित प्रेम स्वार्थ, भय, हिंसा और गुलामी की जमीन पर खड़ा है। पराधीनता से अधिक दुख क्या होगा?

दर्शन से परिचय की लालसा, परिचय के बाद घनिष्टता की कामना, घनिष्टता के बाद आसक्ति, आसक्ति से संबंध और संबंध से अधिकार भावना–यह हमारे इस प्रेम की विकास–सरणि हैं। प्रेम में बड़े दावे और वादे होते हैं, लेकिन जहाँ दावे और वादे किये जाते

हैं, वहीं प्रेम नहीं होता, केवल संबंधों का प्रेम रहित निर्वाह होता है। संबंध,--अधिकार, अंकुश, सीमा, मर्यादा आदि की रस्सियों से बँधे रहते हैं और ये सब मिलकर प्रेम का गला घोंट देते हैं जबकि प्रेम को किन्हीं किनारों में नहीं बाँधा जा सकता। प्रेम नदी है, नहर नहीं, वह प्राकृतिक जंगल है, घर का किचिन गार्डन नहीं, वह आजाद परिन्दे की तरह है, पिंजड़े में बन्द तोता नहीं।

लेकिन हमने जानबूझ कर वही सब किया है, जो प्रेम को मंजूर नहीं। उसे हमने नहर बना दिया है, उसे हमने अपना किचिन गार्डन बनाकर कटीले तारों की चहार दीवारी में घेर लिया है और पिंजड़े का तोता बना कर घर में कैद कर लिया है। इसीलिए प्रेम के नाम पर सर्वत्र एक धोखा चल रहा है। प्रेम के पर्दे के पीछे घृणा बजबजाती रहती है; सन्देह तैरता रहता है; विश्वासघात सरकता रहता है; बैर उकसता रहता है। भाई-भाई में प्रेम नहीं, बल्कि स्वार्थ है। बहिन बहिन में प्रेम नहीं, बल्कि ईर्ष्या है; मित्र-मित्र में प्रेम नहीं; बल्कि अवसरवादिता है; पति पत्नी में प्रेम नहीं; बल्कि मालकियत और गुलामी है; प्रेमी- प्रेमिका में प्रेम नहीं, बल्कि वासना है। प्रेम में इतनी बड़ी अदृश्य दरार होती है कि जरा सा मौका मिलते ही उसमें शक, नफरत आदि के चूहे घुस बैठते हैं और फिर निकाले नहीं निकलते। कुतर-कुतर कर उसमें हजार छेद कर डालते हैं।

प्रेम पर मैं वह लिख रहा हूँ, जो मैंने देखा और भोगा है। जो मैंने नहीं देखा, वह मेरे लिए झूठ है या कोरा आदर्श है। आदर्श अपना बचाव कर दूसरों को अनुशासन और प्रशासन में रखने की चालाक तरकीब है। इस तरकीब को मैंने अपने बच्चों पर इस्तेमाल करके देखा है और पाया है कि आदर्शवादी को बड़ी सावधानी साधनी पड़ती है। हर समय भीतर से सशंकित, और डरा-डरा सा, हिचका-हिचका सा कोई बात करता है, लेकिन बाहर जबान से आदर्शों की ऐसे झड़ी बँध जाती है, जैसे भादों की बरसात होती है। आदर्श, यथार्थ के घाव पर चिपटाया हुआ बनावटी खुंट है।

प्रेम की भावदशा के गहन क्षणों में, मैं कई बार गाफिल हुआ हूँ। किसी का यह कथन सत्य लगा है कि प्रेम अन्धा होता है। थोड़ा सा अनुभव मुझे यह और हुआ है कि प्रेम केवल अन्धा ही नहीं, वह मूक-बधिर और लूला-लँगड़ा भी होता है। अँग्रेजी में मुहावरा है 'टू फॉल इन लव' सच है, प्रेम करता नहीं है आदमी, वह प्रेम में गिरता ही है और गिरता वही है, जो अन्धा-लूला-लँगड़ा होता है।

आज वे प्रेम के गहन क्षण नहीं रहे। स्मृति रह गयी है और इसी के सहारे मैं प्रेम पर चिन्तन कर रहा हूँ। चिन्तन अलग, अनासक्त रहकर ही पैदा होता है। जब तक हम तादात्म्य की दशा में रहेंगे तब तक किसी विषय का निरपेक्ष चिन्तन नहीं हो सकता। किसी भाव या स्थिति के उतार-चढ़ाव का पूरा अनुभव करके, उस अनुभव की सारी स्मृतियों को सँजोकर तदनुसार तर्क-वितर्कमयी बौद्धिक मीमांसा चिन्तन है। इतना अवश्य है कि प्रेम सिर्फ एक भावदशा है, जिसका अनुभव ही किया जा सकता है। उसे किसी भी माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता। फिर भी पूर्ण से मिलने के लिए अपूर्ण हृदय की आकुलता भरी तड़प प्रेम है। अथवा प्रेम-सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के सार भाग से बनी वह भावना है, जो पर दुख का निदान कर पर सुख का विधान करती है. बिना यह परवाह किये कि मुझे सुख मिलेगा कि दुख। यही सच्चा प्रेम है, प्रेम की आत्मा है और इसी कारण प्रेम तत्त्व को इतना महत्त्व दिया गया है; लेकिन इसे अपने जीवन और व्यवहार में उतार पाता है कोई विरला ही। इसीलिए

सच्चा प्रेम काल्पनिक बात लगती है।

प्रेम के आश्रय और आलम्बन स्वयं में अपूर्ण होते हैं, लेकिन प्रेमतत्त्व स्वयं पूर्ण है। इसमें से कुछ घटता भी नहीं, जुड़ता भी नहीं। अपूर्ण मनुष्य में 'पूर्ण' प्रेम का निवास है। यही पूर्ण, पूर्ण को खोजता है, लेकिन उसकी भेंट अपूर्ण से ही होती है इसीलिए प्रेम संतुष्ट नहीं होता। जिस सुन्दर पात्र को देखता है, उसी की ओर अन्धा होकर दौड़ता है, पास जाता है, मिलता है, लेकिन थोड़े दिन बाद ऊब जाता है। जो सुन्दर था– असुन्दर हो गया; जिससे सुख की आशा थी, उससे दुख मिलने लगा और फिर आँख दूसरे की ओर उठ गयी– फिर तीसरे की ओर, चौथे, पाँचवे, छठे की ओर, लेकिन वह नहीं मिलता इस लोक में, जिसे पाकर मन पूरी तरह संतुष्ट होकर कह दे कि बस अब तुम्हारे अलावा कोई और नहीं चाहिए। प्रेम की आत्मा संतृप्ति है और यह संतृप्ति सांसारिक पात्रों से नहीं मिलती अत: वह खोजता फिरता है – इसमें नहीं तो उसमें, उसमें नहीं तो उसमें–और जब तक वह 'पूर्ण' नहीं मिल जाता, प्रेम की यह व्यभिचार-वृत्ति बनी रहती है। 'भ्रमर-पुष्प न्याय' का उदाहरण यह प्रेम बन जाता है। समाज के द्वारा गर्हित होता है। इसी को पाप, अधर्म, व्यभिचार, बेवफाई, धोखा, दगा, विश्वासघात आदि नाम देकर प्रेम के दूसरे पहलू 'घृणा' को उभार दिया जाता है। प्रेम और घृणा में अन्तर है कि प्रेम में अवगुण भी गुण बन जाते हैं और घृणा में गुण भी अवगुण।

प्रेम के इस आत्यन्तिक मर्म को जब तक नहीं समझा जाता, तब तक अनेक निष्ठ प्रेमी होते हुए भी हम सब दूसरों के इस भाव की निन्दा करते रहेंगे। कुछ विशेष अपवादों जिन्हें 'पूर्ण' की महत्ता का ज्ञान हो गया है, को छोड़कर, देहधारियों से एक निष्ठ प्रेम होना मुश्किल है, क्योंकि देह का तार विदेह से जुड़ा है; लोक का तार अलोक से जुड़ा है और अपूर्ण मनुष्य का तार पूर्ण परमेश्वर से जुड़ा है। अपूर्ण में पूर्ण को देखने की जिसकी आँख खुल गयी है, वह श्वेतकेतु की तरह अपने मारनेवाले में भी उसी को देखता है कि "तत्त्वमसि श्वेतकेतु:" वही संतुष्ट है, वही पूर्ण काम है और उसकी यही भावदशा दिव्य या अलौकिक प्रेम है।

हमारे समाज में प्रेम शब्द का अर्थ संकोच हो गया है और अर्थापकर्ष भी। यह प्रेमी-प्रेमिका या पति-पत्नी के दायरे में सिमट कर रह गया है, जिस पर समाज की आचार संहिता के कड़े नियम लागू हैं कि खुलकर किया नहीं जा सकता, दिखाया नहीं जा सकता। लगता है प्रेम सचमुच अपराध है। इन दो रिश्तों के अलावा और जो प्रेम है, वह खालिस नहीं है– यदि वह समान समलिंगी में है तो मित्रता है; बड़ों से है तो वह आदर, श्रद्धा आदि है; छोटों से है तो वह ममता और दुलार है और अलौकिक से है तो वह भक्ति है।

अविवाहित युगल के प्रेम को तो यह समाज बर्दाश्त ही नहीं करता– अब रही पति-पत्नी के प्रेम की बात सो उस पर एकनिष्ठता का साइन बोर्ड टाँग दिया गया है और यह संविधान की धारा पुरुष पर कम और स्त्री पर अधिक लागू होती है। आखिर एकनिष्ठ प्रेम की बात आयी क्यों? कुछ कारण तो स्पष्ट हैं कि कहीं समाज में मर्यादा भंग न हो जाए कि अराजकता और भ्रष्टाचार न फैल जाए, भले ही भीतर-भीतर यही सब है। इसके बावजूद कुछ आध्यात्मिक कारण भी हैं। यद्यपि हर आदमी नहीं जानता कि एक से प्रेम करने पर क्यों जोर दिया जाता है? वह आध्यात्मिक कारण यह लगता है कि एक परमात्मा ही सबके भीतर और बाहर है। वही पूर्ण है और परमतोषदाता है। हमारा सांसारिक एकनिष्ठ प्रेम एक प्रतीक है, एक सीढ़ी है उस एक परमेश्वर के प्रेम तक पहुँचने की। यदि हम इस संसार में सर्वतो भावेन एक से प्रेम नहीं कर सकेंगे, एक के होकर नहीं रह सकेंगे तो अन्ततोगत्वा उस एक परमेश्वर के

कैसे हो सकेंगे? बहरहाल यह प्रेम कोई हँसी खेल नहीं है, एक आग है जो पहले अपने आप को जलाती है, फिर दूसरों को जला देती है–और जैसे आग के जलते ही धुआँ मिट जाता है, वैसे ही प्रेम के पैदा होते ही सारे कषाय मिट जाते हैं। लेकिन आग से खेलना आसान नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रेम अशारीरिक होता है और दूर रहने पर ही पनपता है। हमारे विचार से शरीर प्रेम का आधार है। इसी में वह पैदा होता है और इसके मिले बिना वह संतुष्ट नहीं होता क्योंकि यदि मित्रता का प्रेम है तो बिना हाथ मिलाये, बिना गले लगाये उसे तसल्ली नहीं होती। यदि वह वात्सल्य का प्रेम है तो बिना गोदी में, बिना कंधे पर चढ़े अपनी उपेक्षा समझता है। यदि वह श्रद्धा का प्रेम है तो बिना चरण छुए उसे संतोष नहीं मिलता। अत: प्रेम वायवी नहीं होता। वह शरीर की माँग करता है। इस बात को अबोध बच्चे की क्रियाओं से समझा जा सकता है। बच्चा जब किसी से बहुत प्रेम करता है तो उससे लिपटता है, चिपटता है, खोंसता है, बकोटता है, चूमता है, चाटता है, बालों मूंछों को नोंचता है। बच्चा यह सब जानबूझकर नहीं करता, प्रेम के लक्षण ही ये हैं। इसीलिए बड़े होने पर प्रेम के क्षणों में जब तक ये सब क्रियाएँ नहीं होतीं, आदमी का प्रेम प्यासा-सा अधूरा-सा रहता है। भले ही यह सब वह बच्चों की तरह सबके सामने न कर, एकान्त में करे। लेकिन प्रेम के क्षणों में आदमी लगभग बच्चा होता है। बिना अनुभव के प्रेम पैदा होता है और ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता जाता है प्रेम दगीला होकर मरता चला जाता है। प्रेम में जब वासना का समावेश हो जाता है तो वह छिपकर और छिपाकर किया जाने लगता है।

लौकिक प्रेम यदि कुंठित हो जाए, या उसकी कद्र न की जाए अथवा उसे उपेक्षित कर दिया जाए तो वह भ्रष्टाचार बन सकता है, एकमुखी समर्पण अनेकमुखी वासना में बदल सकता है। इन्हीं कारणों ने वेश्याओं और व्यभिचारों को जन्म दिया है।

प्रेम जब संबंधों में बँध जाता है तो कालान्तर में वह पर-सुख का विधान नहीं पर-दुख की कामना करने लगता है। जैसे, प्रेमी युगल में कोई एक कमजोर, अक्षम, रुग्ण या असुन्दर है और दूसरा सशक्त और सुन्दर है तो पहले के मन में दूसरे के प्रति प्रेम के स्थान पर एक डाह और जलन पैदा होती है और वह अपने प्रिय की अस्वस्थता की, कमजोरी की, बुढापे की कामना करने लगता है। अपनी हीनता प्रेम की क्यारी में शक का बीज बो देती है। ऐसी स्थितियों में किसी तीसरे व्यक्ति से हँसना, बोलना, बातें करना भी कलह का, विश्वासघात का कारण बन जाता है और प्रेम जीवन का अभिशाप। इसीलिए अनुभवी लोग कहते हैं कि, "लायक ही सों कीजिए ब्याह, बैर औ प्रीति।"

लालच प्रेम की वृत्ति है। आकर्षण प्रवृत्ति है। स्वप्न, कल्पना उसकी गति हैं। जब ये सारी बातें लौकिक वस्तुओं के संबंध में मन में आती हैं तो प्रेम का व्यक्त रूप 'लोभ' हो जाता है और जब व्यक्तियों के संबंध में आती हैं तो मुख्य रूप से 'प्रेम' कहा जाता है, परन्तु प्रेम का पौधा हर हालत में लोभ या लालच की ही धरती में उपजता है। इसी कारण इस प्रेम में लोभ के सारे गुण, धर्म, जैसे विडम्बना, हीनता, अभाव, कातरता, स्त्रैणता, दुराव, छिपाव, झूठ, धोखा, चोरी, हिंसा, कृपणता आदि छिपे रहते हैं, जो आलम्बन के समक्ष प्रकट भी हो जाते हैं। प्रेमी द्वारा प्रेम को प्रकट कर देने पर यदि प्रिय उसे स्वीकार न करे तो प्रेम घृणा और क्रोध में बदल जाता है। और स्वीकार कर लिए जाने पर इस प्रेम में शौर्य, साहस, पराक्रम के पंख लग जाते हैं। अपने प्रियों को दिखाने के लिए प्रेमियों ने बड़े-बड़े

अजूबे काम कर डाले हैं।

लेकिन यही शूरवीर प्रेम प्राप्त करने के लिए भिखारियों की तरह प्रिय के सामने 'ही-ही' करता है; मूर्खों की तरह वह बे सिर-पैर की बकता है; पागल मजनुओं की तरह वेश बनाए फिरता है; कायरों की तरह गिड़गिड़ाता है; भूखों-नंगों की तरह टुकुर-टुकुर देखता है; कुत्तों की तरह पूँछ हिलाता और तलवें चाटता है; अपराधियों की तरह चुपचाप डाँट खाता है; चोरों की तरह छिप-छिपकर चलता है; पापियों की तरह अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करता है; कायर और डरपोकों की तरह शरीर काँपने लगता है, धड़कनें तेज हो जाती हैं, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, जबान लड़खड़ा जाती है। पौरुष व्यंजक जितने तत्त्व, जैसे- अहंकार, अभिमान, घमण्ड, दर्प, गर्व आदि हैं वे सब प्रिय के सामने लोट-पोट होने में अपनी कोई तौहीन नहीं समझते, लेकिन ऐसा करते हुए यदि कोई तीसरा देख ले तो डूब मरने के लिए कहीं चुल्लू भर पानी नहीं मिलता।



९. परोपकार

विश्वास सा होने लगा है कि हर अच्छाई का जन्म या तो बुराई की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ होगा या बुराई के डर से हुआ होगा अथवा बुराई से बचने के लिए हुआ होगा। अराजकता को देखकर व्यवस्था जन्म लेती है। विखराव को देखकर सुधार का ख्याल पैदा होता है। अराजकता, बेतरतीवी, बुराई–प्राकृतिक हैं, अकृत्रिम हैं, ईश्वरीय हैं और व्यवस्था, अनुशासन, साजसँभाल, सुन्दरता, भलाई आदि कृत्रिम हैं, अप्राकृतिक हैं, मानवीय हैं। इन्हें क्रिया नहीं, प्रतिक्रिया कहना अधिक तर्क संगत लगता है। सहज या प्राकृतिक में दखलंदाजी ही प्रतिक्रिया है अथवा किसी की क्रिया में अपनी, बुद्धिमत्ता की लग्गी लगाना प्रतिक्रिया है। मानवीय जगत् में जो कुछ सुन्दर और सुसज्जित दिखायी देता है, वह सुन्दर था नहीं–प्रतिक्रिया में बनाया गया है। यदि बेतरतीव झाड़–झंखाड़ और जंगल शुरू में न रहे होते तो बाग–बगीचे, पार्क–उद्यान आज दिखायी न देते। यदि प्रारम्भ में मनुष्य खोहों, गुफाओं और पेड़ों की आड़ में न रहा होता तो किलों, महलों और सुन्दर बँगलों का निर्माण न हुआ होता। यदि बर्बरता, क्रूरता और पशुता न होती तो मानवीय मूल्य और मानवता न होती। परोपकार भी यों ही पैदा नहीं हो गया, आदमी ने बड़े झटके खाये होंगे। बड़ी बुराइयों का निशाना बना होगा, तब बुद्धि विवेक के विकसित होने के बाद उसके मन में परोपकार, भलाई आदि मानवीय मूल्य जागे होंगे। तुलसीदास को रत्नावली ने जब व्यंग्य वाणों से इतना आहत कर दिया कि वे उसको मुहँ दिखाने लायक न रहे तब समझ में आयी होगी यह बात कि–"परउपकार सरिस न भलाई। पर पीड़ा सम नहिं अघमाई।"

अत: निन्दा से, अपकार से, आघात से, बुराई से आदमी इतना भयभीत हुआ होगा कि इनके उपचारार्थ भलाई और उपकार की दवा ईज़ाद की होगी कि कहीं कोई हमें बुरा न कह दे कि कोई हमारा नुकसान न कर दे–इसलिए अच्छाई इसी में है कि हम भीतर से न सही तो कम से कम ऊपर से ही भलाई कर दें, गुड़ न दे पायें तो गुड़ की सी मीठी बातें ही करके दूसरों की निगाहों में भले बन जाएँ। बुरा होकर भी भला दिखना ही आदमी की विशेषता है। वैसे, क्या है यह उपकार और कैसी है यह भलाई? गहरे देखने पर विरोधाभास के अलावा और कुछ दिखायी नहीं देता। क्योंकि एक की भलाई की जाती है, दूसरे से बुराई अपने आप बँध जाती है। एक से जुड़ते हैं, दूसरे से टूटना अपने आप हो जाता है। एक पक्ष की सहायता की जाती है, दूसरे पक्ष के विरोधी अपने आप बन जाते हैं। स्वार्थ सिद्ध हो गया किसी से हमारा तो वह व्यक्ति बड़ा भला है और स्वार्थ सिद्ध न हुआ तो वह व्यक्ति बड़ा बुरा है। स्वार्थ अच्छाई और बुराई का मिस्त्री है।

अपने बाल–बच्चों की भलाई करनेवाला अन्य परिवारियों का बुरा हो जाता है और परिवारियों के लिए मरने–खपने वाला पत्नी–बच्चों की शिकायतों का निशाना बन जाता है। सबके ऊपर समान उपकार तो कभी उस तथाकथित परमात्मा ने भी नहीं किया, इस प्रकृति ने भी नहीं किया।

श्री राम ने सुग्रीव की भलाई की और बालि को मारडाला। विभीषण का उपकार किया और रावण का वंश मिटा दिया। पाण्डवों का उपकार करके श्री कृष्ण को भलाई मिली तो उनके द्वारा कौरव मटियामेट भी हो गये। तुलसीदास ने स्वान्त: सुख के लिए रघुनाथ–गाथा

लिखकर आत्मोद्धार तो कर लिया लेकिन उनकी पत्नी रत्नावली को सधवा होते हुए भी विधवा की तरह तड़प–तड़प कर मरना पड़ा।

हर जीव–जन्तु पर दया करना, दीन–दुखियों की सेवा करना लोक में उपकार कहा जाता है। भाषणों में किताबों में इतनी ऊँची बातें भरी पड़ी हैं–भलाई और उपकार पर कि दाँतों तलें उँगली दवानी पड़ती है। देखा भी गया है कि ऐसे परोपकारी अच्छी नश्ल के कुत्ते–बिल्ली, तोता–मैना, हिरन–खरगोश आदि को पैसे से खरीद कर साबुन से नहलाते हैं, दूध पिलाते हैं, गद्दों पर सुलाकर हर देखनेवाले की निगाह में दया– निधान बन जाते हैं पर वह खजुला कुत्ता रातभर मुहँ रगड़–रगड़ कर दरवाजे पर पछाड़ें खाता रहा, उसे उजाला होने से पहले ही डंडा लेकर दूर तक खदेड़ आते हैं। ये परोपकारी हैं।

पेड़–पौधों में भगवान् बताए जाते हैं और आजकल तो प्रदूषण रोकने के लिए वृक्षारोपण पर इतना जोर है कि जगह–जगह नारे लिखे मिल जाएँगे कि 'एक वृक्ष दस पुत्र समान है।' कोई गरीब आदमी एकाध पेड़ काटले तो पुलिस पकड़ लेती है। जुर्माना तो होना ही है, सजा भी हो सकती है यदि उसमें से आधी लकड़ी और रिश्वत न मिली तो। अन्यथा जंगलों के निकट रहनेवाले जानते हैं कि किस तरह साल, सागौन, शीशम, देवदार रातोंरात जंगलों से कटकर बड़े–बड़े सेठों और तस्करों के कल कारखानों की शोभा बढ़ाने लगते हैं।। अब यहाँ पेड़–पौधों में भगवान् नहीं है।।

पेड़ों की अवैध कटाई और तस्करी को छोड़ यदि हम इनके लिए मानवीय सेवा और उपकार को देखें तो अपवाद के लिए जगह नहीं मिलेगी कि हम सिर्फ फलदार और उपयोगी वृक्षों के लिए ही खाद–पानी और सुरक्षा की व्यवस्था करते हैं या करील–कुंजों और झाड़–बबूलों के लिए भी? बड़ी–बड़ी बातें करनेवालों को राह चलते देख लीजिए कि सड़क पर पड़े बूढ़े भिखारी के ऊपर दूर से दस का सिक्का फेंक कर किस तरह मुहँ बिचकाते हुए निकलते हैं और वेही अपना काम कराने के लिए बड़े-बड़े अफ़सरों के पिछले दरवाजों से नोटों की गड्डियाँ और शराब–शबावों को सिर झुकाकर सरका आते हैं। किसी नव युवती विधवा पर वासना की तो हजार आँख गढ़ी रहती हैं पर उससे विवाह करने का उपकार कितने लोग करते हैं?

कुछ अपवादों को छोड़कर हम उपकार उसी का करते हैं जो या तो हमारा अपकार करने में सक्षम हो या हमारी स्वार्थ सिद्धि में सहायक। हम प्रशंसा उसी की करते हैं, जो हमारा कुछ बना–बिगाड़ सकता हो।

हम भला उसी को कहते हैं, जो कभी भी हमें निन्दित–अपमानित कर सकता हो। हम पानी उसी पेड़ में देते हैं, जिससे फल और छाया की आशा हो। सबल का उपकार इसी लिए भलाई कहा जाता है कि अब हमारा पक्ष मजबूत हो गया, कोई हमसे आँख मिलाने की कोशिश नहीं करेगा।

कौन किसका उपकार करता है? किये हुए का बदला न मिले तो आदमी देकर छीनने के इरादे करने लगता है; बनाकर बिगाड़ने के मंसूबे बनाने लगता है और कुछ बना बिगाड़ न पाए तो अपना अहसान तो जता ही देता है कि हमने यह किया,वह किया और बदले में हमें यह मिला। परिणामत: परोपकार उपकारी और उपकृत दोनों की सद्वृत्तियों को गंदा कर देता है। अत: सच्चा परोपकार तब तक प्रतिफलित नहीं होता, जब तक कि आत्म परिष्कार न हो जाए, वृत्तियों का निखार न हो जाए और भीतर से बदले का भाव न निकल जाए।

हमारे हाथ किसी गिरे हुए को तब तक नहीं उठा सकते, जब तक कि करुणा हमारी साँस–साँस में न घुल जाए।

दूसरा जो किताबी आदर्श है–'पर पीड़ा सम नहिं अघमाई' कि दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के समान कोई पाप नहीं है। यदि इस पीड़ा को जरा गौर से देखा जाए तो पात्रानुसार यह अपना अर्थ और भाव बदल लेती है। निर्बल के सन्दर्भ में यह पुण्य बन जाती है और सबल के सन्दर्भ में यह पाप हो जाती है। किसी असहाय, कमजोर, गरीब, दलित या नीच को गाली देदी, चार जूते मार दिये, ड़ाँट दिया तो यह पीड़ा पहुँचाना 'अघमाई' थोड़े ही है। पुण्य है। क्योंकि तुलसीदास जो कह गये हैं कि,–

काटेइ पै कदरी फरै कोटि जतन कोउ सींच।
विनय न मानि खगेस पुनि डॉटेइ पै नव नीच।।

किसी कमजोर व्यक्ति की औरत दौलत या किसी बे सहारा विधवा की जायदाद हड़प लेना पीड़ा–अघमाई नहीं 'वीर भोग्या वसुन्धरा' कही जाती है।

कहीं अनजाने में हमने यदि किसी के साथ अभद्र व्यवहार कर दिया, किसी का कोई अपकार कर दिया और बाद में पता चला कि वह आदमी बड़ा खूँख्वार और दुष्ट है, प्रतिशोध में कुछ भी अनर्थ कर सकता है, तब देखिए कि किस कदर हमारी रातों की नींद, दिन का खाना–पीना, टहलना घूमना हराम हो जाता है। उसके भय और आतंक से पश्चात्ताप की आग में जलते हुए हमें अपना वही कृत्य, जो निर्बल के लिए पुण्य था, अब पाप दिखायी देने लगता है और अब उससे बँधे वैर को प्रेम में बदलने के लिए हम कोई बड़ा भारी उपकार करके अपने पाप को धोकर पुण्य के रंग में रँग देना चाहते हैं। लेकिन यह पुण्य और उपकार की भावना आत्मा की गहराइयों से नहीं भय और आतंक की खोह से निकल कर आयी है।

प्रेम और उपकार के भाव भय से पैदा नहीं होते।'भय बिनु होइ न प्रीति' की बात सही नहीं है। भय से आतंक जन्म लेता है। आतंक किसी सिद्ध तांत्रिक के उस डंडे के समान है, जिसे देखकर अच्छे-अच्छे भूत भाग जाते हैं, अथवा आतंक आँखों की ऐसी पट्टी है, जिसें बाँधकर चाहे पूरब हाँको चाहे पश्चिम। चाहे 'हाँ' कहलवाओ चाहे 'ना' बुलवाओ, निषेध के लिए स्थान इसमें नहीं है।

भलाई या परोपकार जैसी बातें रही होंगी कभी, लेकिन आज ये मात्र ऐसे शब्द हैं, जो आकाश में चमकीले तारों की तरह आधुनिक समाज से इतने ऊपर चले गये हैं कि पकड़े नहीं जाते और नीचे भी उतरें तो इस धरती तक आते-आते राख हो जाते हैं। अतः यथार्थ में, निःस्वार्थ भाव से दूसरों की भलाई, दूसरों के लिए भाग–दौड़ को आदमी झंझट, मुसीबत या बला समझकर अपने सुख चैन में खलल नहीं पड़ने देता। पराई आई में कौन मरना चाहता है? पाप-पुण्य और भलाई-बुराई व्यक्ति की निजी बातें हैं, निज के स्वार्थ से जुड़ी हुई। पर से इनका सम्बन्ध बहुत कम है।

किसी के सताने को हम पाप इसलिए भी बताते हैं कि अब हमारे ऊपर भी कभी भी कोई आफत आ सकती है। हमको मारा जा सकता है, लूटा जा सकता है। और दूसरों की भलाई को सेवा, सहायता को हम इसलिए भी पुण्य कहते हैं कि अब हमारा कोई काम रुकेगा नहीं। हम सुरक्षित हैं। आराम से खाएँगे, पीएँगे– दूसरों की दृष्टि में बड़े बने रहेंगे!!

कृतघ्नता परोपकार का गला घोंट देती है। जीवन का कड़वा सच यह है कि हम कितना ही सच्चे दिल से किसी का उपकार करें, कितना ही अपने आप को मिटा डालें, एक

दिन हमारे सारे करे-धरे पर पानी फेर दिया जाता है। ताजमहल बनाकर जिन हाथों ने किसी पर उपकार किया, उन हाथों को कटवा लिया गया। सच्चा हितकारी या नि:स्वार्थ परोपकारी यदि अत्यन्त विनयशील और साधु-स्वभाव है और वह अपने किये हुए उपकार या भलाई की भनक भी किसी को नहीं लगने देता कि मैंने अमुक व्यक्ति के लिए ऐसा किया है तो उसके किये को दूसरे भौंकनेवाले अपना कृत्य बनाकर उसे उपकृत की निगाहों में गिरा और देते हैं। पचास बेईमानों के बीच फँसा एक ईमानदार ही पक्का बेईमान घोषित कर दिया जाता है इसलिए, इस दुनिया से भलाई, परोपकार आदि बातों का अर्थापकर्ष होता जा रहा है।

दूसरों की भलाई करने के पीछे भी अपनी ही हित-साधना और सुरक्षा छिपी है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के पीछे भी अपनी ही हित-साधना और सुरक्षा की भावना है। कोई कितना ही करोड़पति सही, यदि किसी के रत्ती भर भी काम नहीं आता तो अन्त में कोई उसे पानी देनेवाला नहीं मिलता और कोई कितना भी कंगाल सही, सदा दूसरों के लिए खून-पसीना एक करता है तो उसके साथ दस लोग खड़े हो जाते हैं। और इसीलिए दूसरों के लिए कुछ भलाई करने की बात मन में होती है। हम तो दूसरों के लिए लुट बैठे और हमारे कोई तनिक भी काम न आए, यदि यही सोच लिया जाए तो इस दुनिया में कोई किसी की चिरी उँगली पर पट्टी भी न बाँधे।

किसी अनजान जगह पर, किसी अपरिचित व्यक्ति को चोट लग जाने पर, उसकी सहायता करने के लिए जो लोग दौड़ आते हैं, उनमें सच्चे परोपकार की भावना होती है, लेकिन परिचित के साथ यदि यही स्थिति हो तो सहायता करने वालों की भावना में, उसके साथ सम्बन्धों या व्यवहार की स्मृति के अनुसार, थोड़ी मिलावट हो जाती है। सहायता तो की जाती है, लोक-लिहाज से, लेकिन सहायता-वृत्ति पवित्र नहीं होती, उसमें स्वार्थवाला प्रेम और द्वेषवाला अहसान होता है।

सच्चा परोपकारी तो वह है, जो दूसरों के दुखों को पीकर उन्हें सुख दे, पेडों की तरह! सच्चा परोपकारी वह है, जो स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश दे, दीपक की तरह !! और सच्चा परोपकारी वह है जो स्वयं बहे, कंकड-पत्थरों से टकराकर दूसरों की प्यास बुझाए, नदियों की तरह !!! यदि मानवीय जगत् में ऐसा कोई मिल सके तो..............??



१०. नाम और काम

जिस नाम और काम की बात मन में उठी है, उसकी व्यंजना कुछ भिन्न है। एक तो पुकार- नाम होता है, जो पहले गुण, कर्म, संस्कार, जाति और ज्योतिषीय लक्षणों के आधार पर शोधकर रखा जाता था; लेकिन आजकल यह बात नहीं रही। आजकल तो लक्षण- संस्कारों का बिना ध्यान रखे, दूसरों के देख-सुनकर भी नाम रखे जाते है, 'यथा नाम तथा गुण' बहुत कम। नाम परिचय का प्रतीक और संबोधन का माध्यम है।

दूसरा, व्याकरण में भी एक नाम है, जिसे संज्ञा भी कहते हैं अर्थात् किसी व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ, गुण, भाव आदि का नाम। यद्यपि ये नाम भी सम्बोधन के माध्यम या पुकार नाम ही होते हैं, लेकिन इनके साथ व्याकरणिक पुंछल्ला लगा होता है कि इनके लिंग, वचन, पुरुष, कारक आदि बताकर इनकी ॠजु-तिर्यक् अवस्थाओं का भी विवेचन विश्लेषण करो। तब नाम (संज्ञा) की सार्थकता सिद्ध हो।

यहाँ हमें इन दोनों से कोई प्रयोजन नहीं है। हमें तो यहाँ नाम में छिपा वह भीतरी अर्थ खींच रहा है, जिसे 'नामवरी' या अपने नाम को सर्वत्र फैलाने की कामना कहते हैं और जिसका प्रजनन व्यक्ति के अहंकार की कोख से होता है। छिपकर रहने में अहंकार का दम घुटता है वह अपने नाम के झंडे को सर्वोच्च शिखर पर गाढ़ देना चाहता है। अत: यह वह नाम है, जिसके लिए लोक में – नाम कमाना, नाम ऊँचा करना, नाम बिगाड़ना, नाम रोशन करना, नाम बदनाम करना आदि मुहावरे बने हैं।

इसी नाम को फैलाने की अदम्य कामना यश या शोहरत की आरजू भी कही जाती है। शोहर से शोहरत शब्द बना है। शोहर का अर्थ है पति या मालिक और इसकी मालिकियत के प्रसार या थोपने कीं भावना शोहरत है, जो दबकर नहीं, दबाकर उठना चाहती है; छिपकर नहीं, उछलकर छा जाना चाहती है।

इसी तरह काम की भी व्यंजना भिन्न है। बहुत से अर्थ हैं काम शब्द के। हर व्यक्ति काम करता है। कोई कुछ न करे तब भी कांम होता रहता है। दिनचर्या के भी काम होते हैं। स्वार्थ के भी काम होते हैं। जन्म-मरण-विवाह आदि के संस्कार-स्वरूप की जानेवाली खान-पान, दावत आदि की व्यवस्था या आयोजन को भी 'काम' या 'कारज' कहते हैं। काम, क्रोध आदि मनोविकारों में देहासक्ति या भोग की प्रबल इच्छा भी काम है। साधारण इच्छाएँ भी काम है। कामनाओं के समूह को भी काम कहा जाता है। महनत, मज़दूरी, नौकरी या रोजगार को भी काम कहते हैं। शृंगार के देवता या रति के पति (अनंग) का भी नाम 'काम' है; लेकिन यहाँ भी इन सबसे मतलब नहीं है, अपितु उस कर्म से है, जिसे व्यक्ति सारी संकीर्णताओं को त्यागकर उदार हृदय की उच्च भावभूमि पर खड़े होकर, लोक और समाज के कल्याण के लिए, बिना किसी निजी स्वार्थ और फलाकांक्षा के, बिना किसी का अनुकरण किये, करता है। जिसके लिए श्रीकृष्ण ने 'कर्मण्येवाधिकारस्ते.........' कहा और अंग्रेजी की यह सूक्ति 'वर्क इज वर्शिप' अर्थात् कर्म ही पूजा है, बनी। काम समष्टि में छोड़े हुए व्यक्ति के गुण-दोष, सदाशयता-क्रूरता, भावना और बुद्धि, हित या अहित का स्मारक है। नि:स्वार्थ प्रयत्न की उल्लासमय शृंखला कर्म है।

अब पहली बात है नाम, अर्थात् आत्म-विज्ञप्ति, आत्म-प्रशंसा, अपने यश या कीर्ति

को बढ़ाने की चाह अथवा अपने आपको सर्वोच्च मानने, जाहिर करने की ललक! चाहे व्यक्ति आलसी हो या कर्मण्य, कमजोर हो या बलवान्, मूर्ख हो या विद्वान्, गरीब हो या धनवान्, गृहस्थ हो या संन्यासी, नौकर हो या अफसर, सबकी यह आदिम या पुरानी कामना है। सब कुछ बदल जाता है, लेकिन बिना विवेक मिले इस कामना में बदलाव नहीं आता। जिजीविषा की धारा में लहरों के समान हैं ये कामनाएँ कि जब तक नदी रहेगी, लहरें भी रहेंगी। हजारों वर्ष पूर्व आदमी के भीतर ये जिस रूप में थीं, उसी रूप में आज भी हैं, और कल भी रहेंगी। इसीलिए ये 'चिरपुराण और चिरनवीन' हैं। क्यों है मनुष्य में अपने आप को अपने नाम को फैलाने की कामना?

कहा जाता है कि 'ईश्वर अंश जीव अविनासी'। हर जीव ईश्वर का अंश है अथवा हर जीव में ईश्वर किसी न किसी अंश में विद्यमान है। ईश्वर ब्रह्म का पर्याय है। ब्रह्म शब्द 'ब्रह' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है विस्तीर्ण, फैला हुआ या फैलने वाला। फैलना ब्रह्म का स्वभाव है। क्योंकि स्वयं ब्रह्म तो अगम, अगोचर और निराकार है, इसीलिए वह फैलता सिकुड़ता कैसे दिखायी दे? दिखायी भी देगा तो अपने अंशी के ही माध्यम से क्योंकि अंशी गोचर है, साकार है। अत: गोचर नहीं बढ़ता-फैलता, उसमें छिपा अगोचर बढ़ता-फैलता है। साकार नहीं बढ़ता-घटता, उसके भीतर बैठा निराकार बढ़ता-घटता है। ब्रह्म का सबसे अधिक अंश मनुष्य में है और इसीलिए उसमें निरन्तर फैलते रहने की आदिम कामना है। जब वह पूरा फैल जाता है तो अपने आप को वही कहने लगता है अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि।'

मनुष्य की इस कामना को उभारने में दो तत्त्वों में किसी एक का योगदान होता है, विवेक या बोध का अथवा अहंकार का! अधिकांशत: मनुष्य में सच्चा बोध तो हो नहीं पाता, जबकि अहंकार बिना प्रयास ही पैदा हो जाता है। अहंकार के आते ही ईश्वर तो विलुप्त हो जाता है और कषाय घेर लेते हैं। ईश्वर को दबाकर मनुष्य का अहंकार तन कर खड़ा हो जाता है और वह स्वयं को कर्ता, भर्ता, संहर्ता समझने लगता है। नाव के द्वारा किनारे पर पहुँचा हुआ लगभग हर व्यक्ति कहता है कि मैं पार हो गया। इससे बड़े झूठ और अहंकार का उदाहरण और क्या होगा कि पार तो ले जाती है नाव और आदमी कहता है– मैं पार हो गया। इसीलिए अहंकार द्वारा पोषित मनुष्य के फैलने की कामना, उसे फैलाने की अपेक्षा सिकोड़ देती है। नाव को तो पार कराता है खुदा, इसीलिए ऐकेश्वर वादियों ने माझी को 'नाखुदा' नाम दे दिया कि कहीं उसका अहंकार उसे खुदा न बना दे। 'नाखुदा' अर्थात् जो पार तो करता है, लेकिन भवसागर से पार कराने वाला खुदा नहीं है।

ब्रह्म का विकास और फैलाव तो सृष्टि के हर पदार्थ के विकास और फैलाव में है। अर्थात् ब्रह्म वह है, जो सबके विकास में विकसित होता है–दूसरों को बढ़ाकर ही जो बढ़ता है; लेकिन मनुष्य की बढ़ने की वासना, उसके अहंकार से धक्का खाकर, लौटकर उसी में सिमट कर ऐंठ देती है। फलत: वह दूसरों को घटाकर बढ़ जाना चाहता है; दूसरों को मिटाकर लिख जाना चाहता है; दूसरों को उखाड़कर रुप जाना चाहता है और दूसरों को पोंछकर ही चमक जाना चाहता है। इसीलिए बढ़ने की भ्रान्ति में घटता है। फैलने की भ्रान्ति में सिकुड़ता है। क्योंकि जो दूसरों को बढ़ाता है, वही बढ़ा हुआ और जो दूसरों को उठाता है, वही उठा हुआ होता है। दूसरों को गिरानेवाला तो गिरा हुआ ही कहा जाएगा।

प्राकृतिक उपादानों अथवा सूर्य, चन्द्रमा आदि को देवता मानकर इसीलिए पूजा जाता है कि ये दूसरों को पोषित-प्रकाशित करते हैं। यदि ये अपनी वस्तुओं, हवा-पानी और

धूप-छाया-किरणों को अपने तक ही समेट कर रख लें या किसी विशेष को ही दें तो कौन कहेगा इन्हें महान्। किसी घर के चूल्हे की आग के बराबर ही हैसियत होगी इनकी, जो उसी घर का खाना पकाकर राख हो जाती है और फिर घूरे पर फेंक दी जाती है।

जगत् में माता-पिता को परम-पूज्य और महान् इसीलिए माना गया है, क्योंकि ये अपनी संतान में ही अपना बढ़ना और उसके घटने में अपना घटना समझते हैं। वैसे देखा जाए तो सांसारिक माँ-बाप महानता की उस ऊँचाई को नहीं छू पाते, क्योंकि ये स्वार्थ-संकीर्ण होते हैं। अपनी और परायी संतान में फर्क करते हैं। जीव मात्र के प्रति समान भाव से वात्सल्य-भाव रखनेवाला तो एक ईश्वर है। इसीलिए उसको परमपिता कहा जाता है। अर्जुन ने जब उसको समझा तो एक साथ माता और पिता दोनों कहा : 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव।' सबके बढ़ने में ईश्वर का बढ़ना है; लेकिन आदमी के घटने में वह घटता नहीं है। व्यक्ति का अहंकार उसे घटा देता है। नीत्शे ने जो कहा था कि 'ईश्वर मर गया' यह उसके विवेक का अंधापन है। अहंकार ही सदा मरता है। ईश्वर तो न कभी मरता है न कभी जन्म लेता है। मृत्यु उसी की होती है, जिसका जन्म होता है।

इन तीनों से ऊपर दर्जा गुरु को दिया गया है, क्योंकि ईश्वर तक पहुँचाने वाली सीढ़ी यदि कोई है तो वह सदगुरु है। माँ-बाप के मन में वैर-विरोध, ईर्ष्या-घृणा पैदा हो सकते हैं, लेकिन सद्गुरु के मन में अपने शिष्यों के प्रति ये बातें नहीं होतीं। वह अपने शिष्यों के बढ़ने में बढता है और घटने से जमीन में धँस जाता है। शिष्य की जीत गुरु की जीत और शिष्य की हार गुरु की पराजय है।

अब स्पष्ट है कि कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश लोगों में अपने नाम को फैलाने की जो कामना है, वह ईश्वर का अंश होने के कारण कम अहंकार के कारण अधिक है। लेकिन यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आदमी में कुछ काम करने के बाद ही अपना नाम फैलाने की कामना पैदा होती है या बिना काम किये ही वह अपने नाम की हवा फैलाना चाहता है। कई प्रकार के लोग होते हैं। कुछ तो 'काम थोड़ा नाम ज्यादा' वाले होते हैं, अर्थात् काम सुई के बराबर करके नाम निहाई सा चाहेंगे। ऐसे ही व्यक्ति को दुष्यन्त कुमार ने अपनी ग़ज़ल में उतार कर कहा कि "आदमी बेताब है अखबार बनने के लिए।" दूसरे प्रकार के ऐसे लोग हैं, जो काम कुछ भी न करेंगे लेकिन चाहेंगे यही कि लोग उनकी वाह-वाही करें। तीसरे प्रकार के वे हैं, जिन्हें सिर्फ काम से मतलब है, नाम की कोई विशेष चिन्ता नहीं। उनका काम ही नाम का विज्ञापन कर देता है।

जो अपने आप को नहीं जानते या कोई लोकोपकारी, सराहनीय काम नहीं करते अथवा जानबूझकर अपनी घटिया असलियत को नकली हैसियत से ढके फिरते हैं, वे ही अधिकांशतः इस प्रयास में लगे रहते हैं कि हमें दुनिया जान जाए। ऐसे लोगों को समझदार तो जान ही जाते हैं कि जो अपना नाम फैलाने में लगे हैं, वे काम कौड़ी का भी नहीं करते। बस उनके दम्भ का कुम्भ यों ही छलकता है।

हाँ, बिना काम के नाम कमानेवाले व्यक्ति पर एक ही काम होता है कि वह वास्तव में काम करनेवालों को, बेनाम और गुमनाम या बदनाम करने के काम में लगा रहता है। वह शायद यह भूल जाता है कि काम के बिना जो खाली नाम का प्रचार होता है, वही उसकी बदनामी का कारण बन जाता है, और काम के बाद जो नाम अपने आप फैल जाता है, उसका अन्त नेकनामी में होता है। घातक हैं वे, जिन्हें खाली नाम चाहिए और साधक हैं वे, जिन्हें

खाली काम चाहिए।

काम करनेवाला कभी-कभी नाम के मामले में पीछे रह जाता है और नाम चाहने वाला अक्सर काम के मामले में पीछे होता है। जो काम करेगा, उसे इतनी फुर्सत कहाँ है कि वह अपने नाम के पोस्टर दीवार-दीवार चिपकाता फिरे कि इस देहरी और उस देहरी की धूल लेता फिरे या कि चमचों का दरबार लगाकर, प्रलोभन दे-देकर अपनी स्तुति का गान कराये। काम स्वत्व में प्रवेश कराता है और नाम पराये कानों में घुसता है। नाम तो एक दिन हवा हो जाता है, लेकिन काम वक्त की छाती पर लिख जाता है।

नाम कानों में आते ही उसके परिचितों की आँख और मन में नामित व्यक्ति का रूपाकार, गुण-अवगुण, कृत्य-कुकृत्य आ जाते हैं; लेकिन उस नाम से अपरिचितों के मन में कोई अज्ञात जिज्ञासा, संदेह, प्रेरणा, प्रेम, प्रसन्नता ,आत्म हीनता, दया, उदासी, ईर्ष्या आदि में से कोई भी थोड़े समय के लिए उद्‌बुद्ध हो सकता है। अपरिचित नाम के श्रवण मात्र से न तो विश्वास जमता है और न वास्तविकता की थाह मिलती है, वरन एक अनसुलझा प्रश्न या संदेह खड़ा हो जाता है कि जैसा सुना है, वैसा है भी कि नहीं; क्योंकि दुनिया इस उक्ति को अच्छी तरह जानती है कि जो सौ गज बोंतने का हल्ला मचाते हैं, वे गज भर भी काट दें तो बहुत है।

अधिकांशतः नामों के साथ अतीत और वर्तमान का ही रिश्ता रहता है। बहुत कम नाम ऐसे होते हैं, जिनका भविष्य होता है। उनका भविष्य भी अतीत और वर्तमान के कामों के आधार पर निर्मित होता है। वैसे देखा जाए तो नाम का वर्तमान भी बड़ा झीना और पारदर्शी होता है। कितना ही बड़ा कोई नाम हो जाए, वह वर्तमान में बहुत कम पूजा और माना जाता है। वर्तमान ही घर के जोगी को जोगना और आनगाम के जोगना को सिद्ध कहलवाता है। वर्तमान के बड़े सच्चे नाम के लिए भी अधिकतर लोग यह कहते देखे हैं कि देखा है उसे और उसके खानदान को! कल-परसों ऐसे थे, वैसे थे। अब बन गये। अतः अतीत ही आदमी के वर्तमान व्यक्तित्व को नापने का पैमाना बना रहता है।

असलियत में देखा जाए तो पहली बात यह नाम ही धोखा है, क्योंकि यह धोखे का जामा हमें दूसरों ने पहनाया है। कोई अपना नाम नहीं रखता– उपनाम भले ही रख ले। दूसरी विसंगत बात यह कि दूसरों से नाम पाकर आदमी स्वयं नामी होना चाहता है। कोई ऐसा न मिलेगा, जो भीतर से चाहता हो कि मुझे कोई न जाने। सिर्फ बुरा काम करने के बाद उसे छिपाने की बात को छोड़कर! हम बुरा काम करने के बाद तो हृदय से यह चाहते हैं कि कोई हमारा नाम न जान जाए; लेकिन हम अच्छा काम चाहे करें या न करें पर चाहते यही हैं कि हमारे नाम को दुनिया जान जाए!! यहाँ तक कि बुरा काम करने के बाद भी हम नाम अच्छा चाहते हैं। बड़ा विचित्र है यह आदमी कि करता कुछ और है, दिखाता कुछ और है; सोचता कुछ और है, कहता कुछ और है; मानता कुछ और है, मनवाता कुछ और है। पर सच्चाई तो यही है कि जो होते हैं, वे दिखाते नहीं और जो दिखाते हैं, वे होते नहीं। जो करते हैं, वे गाते नहीं फिरते और जो गाते फिरते हैं, वे करते नहीं। जिन्हें पैना पकड़ने का शऊर नहीं; वे तोपों की बात किया करते हैं।

ऐसे लोगों को पाठ सिखाने या संसार के सामने ऐसे लोगों की हरकतें दिखानेवाली लोकोक्तियाँ और मुहावरे लगभग हर भाषा और हर क्षेत्र में प्रचलित हैं। लोकोक्तियाँ लोकदर्शी विद्वानों के खट्टे-मीठे अनुभवों के मिश्रण से बनी हुई ऐसी 'टेबलेटें' हैं, जिन्हें आदमी यदि कंठ से नीचे उतार कर परहेज बरत ले तो सारा हाजमा दुरुस्त कर नयी शक्ति और स्फूर्ति

से भरकर चालित कर देती हैं। जीवन की दुर्गन्ध कट-कट कर बाहर निकलने लगती है और सुगंध धीरे-धीरे भीतर प्रविष्ट होने लगती है। लोकोक्ति और मुहावरे हर प्रकार के अनुभवों के मोहक-उपयोगी वाणी के फल हैं। साहित्य के फूलों (गद्य-पद्य) की सुगंध हैं। लोक-भाषाओं में प्रयुक्त लक्षणा और व्यंजना के ऐसे संकेत हैं, जिनमें कहा कुछ और जाता है, समझा कुछ और जाता है। जो अप्रासंगिक होकर भी प्रासंगिक होते हैं। बहुत पुराने होकर भी बहुत नये होते हैं। बिना याद किये भी सबको रटे रहते हैं।

काम के बिना ही नाम के नगाड़े बजानेवाले लोगों की कलई खोलनेवाली ऐसी लोकोक्तियाँ या कहावतें हमारे अँधेरे मार्ग की मशालें बनकर, भाषाओं की दीवारों में जहाँ-तहाँ गढ़ी हुई हैं; लेकिन कोई उन्हें लेकर चले, तभी तो पथ आलोकित हो—ऐसे ही थोड़े अँधेरे में चलाये तीर निशाना बेधेंगे !!

कुछ उदाहरण याद आ गये हैं, जरा ध्यान से देखें तो क्या कमाल के गुल खिलाये हैं इन्होंने, जैसे 'थोथा चना बाजै घना' अथवा 'ऐम्पटी विसील्स मेक मच न्वाइॅज़' कथनों में बेचारे चना से कुछ लेना देना नहीं है, उन्हीं ढपोल शंखों की थोथी आवाज को 'टेप' किया गया है। 'जो गरजते हैं, वे बरसते नहीं' या 'वर्किंग डॉग्स सेल्डम वाइट' में बादलों और कुत्तों से कोई सरोकार नहीं है 'नाम बडे करतब थोरे' वाले अथवा ऊँची दुकान पर फीके पकवान बेचनेवाले लोगों की करनी और कथनी को 'राई और नौन' की तरह अलग छाँट कर रख दिया गया है। 'संपूर्ण कुम्भो न करोति शब्दम्' या 'अधजल गगरी छलकत जाए' में कुम्भ और गागर से कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसे ही चलते फिरते दुपाये ढोलों की पोल खोली गयी है। सचमुच ईश्वर भी इनके सामने पानी भरता है। क्योंकि 'नंग बड़े परमेश्वर से'।

तुलसीदास के कथन 'ज्ञानी वही जो गाल बजाबा' में जिसे ज्ञानी कहा गया है, वस्तुत: वही अज्ञानी है, जो अपने मुँह मीयाँ मिट्ठू बनकर जमीन आसमान के कुलावे मिलाता है और रहीम ने हीरे के माध्यम से कि "बड़े बड़ाई ना करें बडे न बोलें बोल। हीरा कबहूँ न मुख कहै लाख टका मेरौ मोल।" कथन में जो आँखों देखा सत्य व्यक्त किया है, उसकी व्यंजना भी तुलसी के इस कथन से मेल खाकर फूटी है कि 'छुद्र नदी जल चलिय तुराई।' अर्थात् बरसाती नदी बड़ी जल्दी, जरा सा पानी पाकर, बरसाती मेंढकों की तरह, किनारों से बाहर कूदने लगती है। इन कथनों में प्रकारान्तर से उन्हीं लोगों के विषय में कहा गया है, जो गाते तो बहुत हैं, लेकिन बजाना नहीं जानते। कूदते तो खूब हैं, लेकिन नाचना नहीं जानते। बातों से जोतते बोते तो बहुत हैं, लेकिन काटने में अपना ही हाथ काट लेते हैं। इनकी बेसिर-पैर की बातों की तुलना के लिए लोक में मुहावरा बन गया है कि 'इनकी बात कुत्ता की लात।' धर्म, राजनीति, शिक्षा, व्यापार—किसी भी क्षेत्र में इनकी कमी नहीं है। एक ढूँढो हजार मिलते हैं।

काम तपस्या और साधना का नाम है। काम (कर्म) फल भी है और फूल भी है। यह गति भी है, विश्राम भी है। गम्भीर भी है, मनोरंजक भी है। भूख भी है, भोजन भी है। प्यास भी है और जल भी है। जो कर्मरत हो गया, वह गृहस्थ भी है, संन्यासी भी है। हर प्रगति का द्वार खुलता है, कर्म के धक्के से; हर मंजिल का मार्ग तय होता है, कर्म के चक्के से!! कर्महीन स्वस्थ भी विकलांग है और कर्मशील अपंग भी सर्वांग पूर्ण है। कर्म ही कर्म का रास्ता बनाता है और वही मंजिल पर पहुँचाता है।

जबकि बिना काम के नाम कमाने की कामना, झूठे यश को पाने की चिल्लपों मचाती

हुई तृष्णा है। मुँह खोले घूमती हुई विडम्बना है। चाटुकारी करती हुई छलना है। जीभ को कंधे पर डालकर कूदती हुई प्रगल्भता है। पूँछ हिलाती हुई याचना हैं। सिफारिशों की बैसाखियों पर टँगी हुई अखबारी विज्ञप्ति है। आत्मा से अपरिचित आत्म प्रशस्ति है। चमचों के हुजूम में झंडा लेकर चलती हुई राजनीति है। घूस, दलाली और तिकड़म का कूड़ादान है। रंग बदलने में इनके सामने गिरगिट भी पानी भरते हैं कि 'रंग क्या बदलेगा गिरगिट आप उससे भी बड़े हैं।' ऐसे लोगों का रंग भी बदलना कैसा कि महानों का नाम सुना तो महान् हो गये, विद्वानों का जिक्र सुना, विद्वान् हो गये!! मतलब यह कि घोड़ों को नाल ठुकाते देख मेंड़की भी अपना पैर आगे बढ़ा देती है। बड़ी मशालेदार बनी है यह लोकोक्ति कि 'बाप न मारी मेंड़की बेटा तीरंदाज।'

प्रायः दो तरह के लोग होते हैं – एक वे, जो नाम के द्वारा अपना काम बनाते हैं। अर्थात् पहले वाक्पटुता से और बड़े विनयभाव से अपनी गरिमा-महिमा का महीन बखान करते हैं, फिर अपनी नकली उच्चकुलीनता की धाक जमाते हैं, इसके बाद सामने वाले की चारों ओर से नाकाबन्दी करके उसे सम्मोहित कर अपना काम करा लेते हैं। अपने मुँह अपनी महानता के जाल में किसी को भी फँसा लेना अच्छी तरह जानते हैं। जैसे-तैसे पद पाकर ही इनकी योग्यता में चार चाँद लगते हैं। इन्हें यदि नाम न मिले तो झुँझलाए फिरते हैं। पद पाने के पहले तो ये खाक के होते हैं, लेकिन पद मिलते ही लाख के हो जाते हैं। ये ऐसे बड़बोला होते हैं कि ब्रजभाषा की यह कहावत इनपर काम नहीं करती कि 'बड़ौ ग्रास खाले पर बड़ौ बोल न बोलै।' कबीर के ये कथन भी इनसे दूर रहते हैं:–

"ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोइ।
औरन को सीतल करै आपहु सीतल होइ।।
बोली एक अमोल है जो कोई बोले जानि।
हिये तराजू तोलि कैं तब मुख बाहिर आनि।।"

और ब्रजभाषा की एक यह भी कहावत कि 'रुचतौ कहै सोहतौ बोलै' भी इनके पास आते ही उलट जाती है। इनकी बातों को सुनकर सामनेवाला उद्विग्न होकर या तो वहाँ से उठ जाता है या इनसे कन्नी काट लेता है। इनसे मधुर संवाद तो हो ही नहीं सकता, मुखर विवाद ही संभव है।

दूसरे वे हैं, जो नाम के लिए नहीं, काम के लिए व्यग्र रहते हैं। काम के बाद इन्हें नाम अपने आप मिल जाता है। ये नाम और पद के लिए मक्खन का इस्तेमाल नहीं करते। आज नहीं तो कल इनका नाम ही वहाँ बिठा देता है। ये जैसे पद पाने के पहले विनम्र और मितभाषी होते हैं, वैसे ही पद पाने के बाद भी रहते हैं अर्थात् जैसे 'साह में वैसे माह में'। पूर्वोक्त दोहों और कहावतों को ये ही अपने जीवन का धन बताते हैं।

काम ही नाम का प्रमाण है और काम ही नाम का प्रसार है। काम ऐसा तप है, जो पूरा तो होता है, एकान्त में, लेकिन जिसका प्रभाव चारों ओर फैल जाता है उस फूल की तरह, जो खिलता तो है एकान्त कोने में, लेकिन उसकी गंध चारों ओर फैल जाती है। असली फूल में गंध की तरह काम में नाम तो छिपा है, लेकिन प्लास्टिक के फूल की तरह नाम में काम की गंध नहीं है। थोड़ी देर का आकर्षण है और सदा के लिए विकर्षण! गंध के कारण ही फूल जाना जाता है, चाहा जाता है। काम के कारण ही नाम माना जाता है और जो केवल नाम के लिए जीते हैं, उनका कोई नामलेवा नहीं होता । कर्म जीवन के फूल की

सुगन्ध है। लोक हितकारी भावना और सर्जना ही कर्म है।

पद से जब गर्मी बढ़ती है तो आदमी के मन में इज्ज़त, मान, प्रशंसा और यश-प्रसार की प्यास जगती है, जो सर्वत्र अपने नाम के जल से और अहंकार की हवा से बुझती है। अहंकार सबसे पहले व्यक्ति में यह भावना जगाता है कि लोग मुझे "भी" जानें, मुझे "भी" मानें और मुझे "भी" पूछें और जब लोग उसे "भी" जानने, मानने और पूछने लगते हैं तो यह 'भी' अव्यय, व्यय होकर 'ही' में बदल जाता है – अर्थात् अब मुझे 'ही' जानें, मानें और पूछें लोग। इसके बाद तो दूसरों का जाना, माना और पूछा जाना इनकी आँख की किरकिरी बनने लगता है और फिर उस 'किरकिरी' को बुहारने के लिए इनका मन ईर्ष्या, द्वेष और कपट की झाड़ू उठाता है। कूटनीति और षडयन्त्रों के हाथों से दूसरों के नाम-धाम-कामों को बुहार कर बाहर फेंकने के उपक्रम में जुट जाते हैं। ऐसा व्यक्ति दिन रात इसी चक्कर में रहता है कि कैसे मैं बढ़ूँ और कैसे दूसरे घटें? किस तरह लोग मुझे जानें और किस प्रकार दूसरों को भूलें? किस प्रकार मेरा मान बढ़े और कैसे दूसरों का अपमान हो। इन्हें कोई न माने तो शायद उतना कष्ट नहीं, लेकिन कहीं इनके परिचित की प्रशंसा किसी ने कर दी तो इनके दिल-दिमाग में फफोले पड़ जाते हैं। दूसरों की हानि ही उनका लाभ और दूसरों की तरक्की से इनकी बधिया बैठ जाती है।

हमें सारी दुनिया जान जाए या कानी कुतिया भी न जाने तो क्या होगा? सिर्फ अहंकार की तृप्ति! और अहंकार से ही यदि हमारा नाम जाना गया तो वह जाना ही जाएगा, – माना नहीं जाएगा! जिसका कोई अनुकरण न करे, जिसकी कोई विशेषता किसी का आदर्श न बन पाये, जिसकी महानता किसी की लघुता को न मिटा सके, उसके नाम को कोई जान जाए तो क्या और कोई भी न जाने तो क्या? रावण और कंस का नाम शायद उतना ही बड़ा और फैला हुआ है, जितना श्रीराम और श्रीकृष्ण का, लेकिन क्या बात है कि इतने बड़े नामों का अनुकरण आजतक किसी ने नहीं किया! कोई मा-बाप अपने पुत्रों का नाम रावण और कंस नहीं रखते।

●

११. मानवीय प्रदूषण

चारों ओर बड़ा शोर है प्रदूषण का कि जल प्रदूषण है कि वायु प्रदूषण है कि ध्वनि प्रदूषण है और इन प्रदूषणों को रोकने के लिए अरबों रुपये भी खर्च किये जा रहे हैं, मंत्रालय बनाये जा रहे हैं,वैज्ञानिक और समाजसेवी संघ टूट पड़े हैं, प्रदूषण को मिटाने के लिए। अखबारों और पत्रिकाओं में प्रदूषण की चर्चा गर्म है। कहीं नदियों का शुद्धिकरण हो रहा है; कहीं फैक्टरियों से निकलने वाले धुएँ को रोकने के लिए वैज्ञानिक उपाय सुझाये जा रहे हैं; कहीं वृक्ष लगाये जा रहे है; कहीं वाहनों आदि में प्रयुक्त होनेवाले तेल से निकले धुँए को रोकने के लिए धूमरहित आग, विद्युत् और सौर ऊर्जा आदि के प्रचलन, अनुसंधान पर बल दिया जा रहा है और कहीं ध्वनि, मृदा और खाद्य सामग्री द्वारा फैलनेवाले प्रदूषण को रोकने की युक्तियों पर अमल किया जा रहा है। लेकिन प्रदूषण रुकने का नाम नहीं ले रहा है क्योंकि प्रदूषण के असली कारखाने की ओर हमारा ध्यान नहीं है–जहाँ से सभी प्रकार के प्रदूषणों की उत्पत्ति होकर उसके विषाणु जल, थल, वायु, अग्नि आकाश सभी को दूषित किये दे रहे हैं। सत्य तो यह है कि कोई चीज बिगड़ती नहीं–बिगाड़ी जाती है; प्रदूषण होता नहीं– किया जाता है और प्रदूषण फैलाने वाला सिर्फ और सिर्फ यह मनुष्य है। यही है प्रदूषण का असली कारखाना कि जिसका हाथ लगते ही सुगंध,–दुर्गन्ध बन जाती है और मधुर फल, घिनौना मल बन जाता है।

सुना है कि एक सतगुरु से शिष्यत्व की दीक्षा लेने एक व्यक्ति गया था। गुरु ने शिष्य बनने के लिए उससे एक शर्त पूरी करने के लिए कहा कि पहले दुनिया की सबसे गंदी और बुरी वस्तु खोजकर ले आओ तो फिर मैं तुम्हें अपना शिष्य बनाऊँगा। वह व्यक्ति गन्दी वस्तु खोजने के लिए चला तो गाँव से निकलते ही रास्ते पर उसे पाखाना पड़ा दिखाई दे गया। बदबू चारों ओर फैल रही थी, साँस लेना मुश्किल था। उस व्यक्ति ने सोचा कि इससे अधिक गन्दी और घिनौनी चीज शायद और कोई न होगी। इसी को किसी तरह ले चलना चाहिए। अत: जैसे ही उसने पाखाने को उठाने के लिए कुदाल आगे बढ़ाया, त्योंही उसमें से एक आवाज़ निकली "ठहरो ! तुमने मुझे सबसे अधिक गन्दा तो मान लिया, लेकिन पहले यह बताओ कि मुझे गंदा बनाया किसने है? मैं तो फल, मेवा, पकवान और घी-दूध था,–किसके संपर्क में आकर और किसके भीतर पहुँच कर मेरा रूप विकृत हुआ है। तुम जैसे छली मनुष्यों ने ही तो यह सूक्ति बनायी थी कि "संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति।" अर्थात् संसर्ग से दोष, गुण और गुण, दोष बन जाते हैं। तुम्हारे संसर्ग में आते ही मेरे गुण, दोष बन गये और मैं प्रदूषित हो गया। अरे ! अपने भीतर झाँककर देखो कि गन्दगी बनानेवाले तुम हो कि गन्दा मैं हूँ।" उस व्यक्ति का हाथ वहीं का वहीं रुक गया। एक घृणित मल ने उसके अन्तर्चक्षुओं को खोल दिया और लौटकर उसने गुरु के चरणों में सिर रख दिया और कहा कि गुरूदेव ! मुझसे बुरा इस दुनिया में और कोई नहीं है। शायद यह कहानी कबीर के इस दोहे में प्रविष्ट हो गयी है कि–

"बुरा जो ढूँढन मैं चला, बुरा न दीखा कोइ।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोइ।।"

आश्चर्य है कि इसके बावजूद भी मनुष्य अपने आप को सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट प्राणी मान बैठा है। कहा जाता है कि मनुष्य धरती, जल, वायु, अग्नि और आकाश प्रकृति के इन

पाँच तत्त्वों से बना चेतन प्राणी है। अब तक के हर निर्माण का दार्शनिक निष्कर्ष यह है कि जो जिससे बनता हैं, वह उसी को विकृत, नष्ट और दूषित करता है। अर्थात् जनक यदि जन्य का निर्माण करता है तो जन्य जनक का क्षय या विनाश करता है। नहीं तो देख लीजिए कि प्राकृतिक शुद्ध जल ने मनुष्य को बनाने में सहयोग दिया और वही शुद्ध जल मनुष्य के संसर्ग में आकर प्रदूषित हो गया। धरती की रज ने मानव शरीर बनाया और यही मानवीय शरीर धरती को मलिन और विषैली बना रहा है। वायु ने मनुष्य में प्राण डाले, इसकी साँस बनी और वही वायु उसके भीतर से खतरनाक कार्बन डाई आक्साइड बनकर निकलती है, जिससे सारा वायु मंडल प्रदूषित हो जाता है। अग्नि ने मनुष्य को गति और जीवन दिया और वह प्राकृतिक अग्नि मनुष्य के उपयोग में आकर नाना प्रकार के धुँओं-गैसों में बदलकर ओजोन पर्त को छितराये दे रही है। आकाश ने मनुष्य का मन बनाया और मनुष्य के इस मन में रक्त बीज की तरह पैदा हो रहे छल, कपट, द्वेष राजनीति, स्वार्थ आदि के बादल उस आकाश की पवित्रता को पीये जा रहे हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि न तो विश्व में जल-प्रदूषण है, न वायु प्रदूषण है, न मृदा प्रदूषण है और न ध्वनि प्रदूषण है—बल्कि चतुर्दिक मानव-प्रदूषण व्याप्त है। यह मनुष्य ही सारे प्रदूषणों का बजबजाता कुंड है, जिससे निकली पराबैंगनी किरणें कुदरत का दिवाला निकाले दे रही हैं। कीड़े-मकोड़ों की तरह दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती हुई विश्व की जनसंख्या अब कई अरब हो चुकी है। इससे सम्बद्ध बहुत निकृष्ट लेकिन महत्त्वपूर्ण बात पर गौर करें तो सारे विश्व की जनसंख्या की एक दिन की खाद्य-सामग्री को ही यदि इकट्ठा रख दिया जाए तो कुबेर का ढेर हो जाए; यदि इस आबादी के एक दिन के मल को इकट्ठा कर लिया जाए तो हिमालय रसातल को धसक जाए और यदि इसके मूत्र को एकत्र कर दिया जाए तो बेचारा प्रशान्त महासागर भी अशांत होकर अपने डूबने के लिए चूल्लू भर पानी की तलाश करने लगे। जाने यह धरती कैसे टिकी हुई है? काँप जाती है बेचारी और आये दिन भूकंपों के रूप में झटके खाकर फिर चुपचाप झेलती रहती है इस मानवीय नरक को !!

रेल की पटरियों के सहारे, सड़कों और रास्तों के किनारे, गाँवों और शहरों की गलियों में खाली-भरे स्थानों पर, पोखर, तालाबों और नालियों पर, नदी, नालों और नहरों पर, बाग-बगीचों और जंगलों में, दुकानों के आगे और चौराहों पर, मैडीकल कालिजों, स्कूलों और अस्पतालों में, फूलों की दुकानों, मिष्ठान भंडारों और होटलों में, धोबी घाटों और बावर्ची खाने में, मदिरालय और वेश्यालयों में, पिकनिक स्थानों और तीर्थों पर मानव द्वारा विकीर्ण पवित्रता को देखकर आकाश में बैठे देवताओं की आत्मा भी मुग्ध हो जाती होगी। कल-कारखानों, वाहनों, चूल्हों, भट्ठियों और युद्धों में प्रयुक्त हो रहे विस्फोटकों का धुआँ किस यज्ञ-धूम से कम है? यह मानव-निर्मित विस्फोटकों के जहरीले धुएँ का घटाटोप, यह दूषित साँसों का विषैला अम्बार, यह मानवीय कुवृत्तियों का विकृत पसारा, यह षड़यन्त्रों और साजिशों की जानलेवा घुटन, यह छल-छद्म और क्षुद्र राजनीति की गर्द भरी आँधी, यह स्वार्थों और भितरघातों की बदबू, यह लूट-खसोट, बेईमानी, आतंक, साम्प्रदायिकता और अलगाववाद की सड़ाँध—किसी प्रकार के जल, वायु और ध्वनि सम्बन्धी बाहरी प्रदूषण से लाखों गुनी खतरनाक है। वह बाहरी प्रदूषण तो पहले बीमार करता है और फिर मारता है, लेकिन यह भीतर का मानवीय प्रदूषण पहले मारता है फिर मरे हुए को बीमार बनाकर सिसकता रखता है। बाहरी प्रदूषण को तो रोका जा सकता है, लेकिन इस भीतरी प्रदूषण को रोकने के उपाय किये भी गये

पर आज तक रुक नहीं पाया।

इस मानवीय प्रदूषण को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटकर देखा जा सकता है–पहला भौतिक प्रदूषण है, जिसमें मनुष्य के शरीर से उत्पन्न प्रदूषण के अलावा उसके भौतिक क्रिया-कलाप, निर्माण और विध्वंश आदि से उत्पन्न प्रदूषण है–जिसका परिणाम होता है छूत के रोग, सूखा, बाढ़, अकाल, महामारी। और दूसरे प्रकार का मानसिक प्रदूषण है, जिसमें मनुष्य की बौद्धिक तिकड़म, चालबाजी, संकीर्णता, विघटन की भावना, अतिशय महत्त्वाकांक्षा और स्वार्थपरता आदि बातें आती हैं–जिनका परिणाम होता है नैतिक और सांस्कृतिक पतन, चोरी, बेईमानी, छीना-झपटी, पद लोलुपता, हत्या, आतंक, बैर, कलह, शोषण, ईर्ष्या, कपट, छल-प्रपंच आदि। इस मानसिक प्रदूषण में–राजनीतिक प्रदूषण, धार्मिक प्रदूषण, सामाजिक और पारिवारिक प्रदूषण तथा साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रदूषण आदि हैं।

अब तक युगों को सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलयुग आदि नामों से पुकारा जाता रहा है, लेकिन इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध को 'नेतायुग' नाम दिया जाए तो बेहतर होगा। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जैसे पुरुषार्थ चतुष्टय को भी धक्का मारकर आज राजनीति मानव जीवन का चरम लक्ष्य और नेतागीरी परम धर्म बन गयी है। गली-गली और गलियारे-गलियारे सड़क छाप नेताओं बनाम दलालों की बाढ़ उमड़ पड़ी है। बड़े-बड़े अफसरों के आगे-पीछे, बड़े-बड़े नेताओं के दरवाजों पर, पत्रकारों के दायें-बायें इन्हें पूँछ हिलाते, दाँत निपोरते, बगलें झाँकते, चुगली चाटुकारी करते, घुड़की दिखाते, दलाली करते, डींगें मारते–बड़ी आसानी से देखा जा सकता है। लगता है जैसे राजनीति ही सीढ़ी है आत्मोत्थान के शिखर पर चढ़ने की। ये लोग और तो कुछ कर नहीं सकते लेकिन समाज और देश के माहौल का परिष्कार करने में एक बड़ी अच्छी भूमिका अदा कर रहे हैं कि अपने घटिया चरित्र और कुकृत्यों के कारण बड़े-बड़े सच्चे और देशभक्त नेताओं के प्रति संदेह और अविश्वास जनता के मन में भरे दे रहे हैं। इन टुच्चे नेताओं के कारनामों को देखकर जन सामान्य के मन में नेता और राजनीति के नाम से नफरत होने लगी है। बड़े-बड़े अफसरों को बरगलाकर, बहकाकर और धमकाकर उनतक सही खबर पहुँचने नहीं देते फलतः गलत को सही करा लेते हैं और सही को गलत। मन्तव्य कुछ और होता है और ये अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए प्रचारित कुछ और करते हैं। खादी के वस्त्र पहने, काला चश्मा लगाये हुए ये महामानव मंत्रियों और अफसरों से अपनी सगी नातेदारी और मित्रता निकालकर भोली भाली जनता और बेरोजगारों को काम कराने के बहाने, मुकदमा जिताने के बहाने, नौकरी दिलाने के बहाने स्वयं ठगते हैं, लूटते हैं, दलाली करते हैं।

नाना संघों, सम्प्रदायों और पार्टियों में घुसी हुई इनकी क्षुद्र राजनीति ऐसा विष उगल रही है कि जिससे प्रेम, भाईचारा, सद्भाव, विश्वास, शान्ति, सुरक्षा, संवेदना, त्याग, चरित्र, ईमानदारी, आस्था, देशभक्ति आदि मानवीय मूल्य प्रदूषित और धुमैले होते जा रहे हैं। क्या बिगाड़ेगा जल प्रदूषण और क्या बिगाड़ पायेगा वायु और ध्वनि प्रदूषण? कोई बताये तो सही कि इस राजनीतिक प्रदूषण का मुकाबला कौन सा प्रदूषण कर सकेगा? ऐसी क्षुद्र राजनीति का चित्र है अनीति, भ्रष्टाचार और अन्याय के ऊपर नीति और न्याय का मुखौटा लगाये हुए चलती फिरती पिशाचिनी, जो आदमी को नेता बनाने का दीक्षा मंत्र देती है कि "निर्बल को डाँट दो और सबल के पैर चाट लो।" सत्य, ईमानदारी और वचनबद्धता राजनीति के लिए अयोग्यताएँ हैं और झूठ, फरेब, बेईमानी, बेजुबानी, संवेदनहीनता और थूककर चाट

लेने की वृत्ति राजनीति के क्षेत्र में प्रविष्ट होने की न्यूनतम योग्यताएँ हैं। जो इस क्षुद्र राजनीति में आ गया उसको इन महान् सद्‌गुणों में पारंगत समझ लेना चाहिए। यह सच्चा राजयोग है, जिसमें न कोई किसी का बाप है और न कोई किसी का बेटा; न कोई किसी का भाई है और न कोई किसी का मित्र। सारी दुनिया के गिरगिट तोबा बोल गये हैं, एक नेता के बदलते रंग के सामने। अपना दोष दूसरों के सिर मढ़ देना राजनीति का बड़ा कुशल सूत्र है।

इस क्षुद्र और अधकचरी राजनीति ने ऐसा पर्यावरण सुधारा है कि जहाँ प्रेम, भाईचारा और विश्वास होने चाहिए थे, वहाँ नफरत, शंका, और सन्देहों को भर दिया। जहाँ त्याग और समता होनी चाहिए थी – वहाँ लूट-खसोट, छीना-झपटी और अलगाव पैदा कर दिया। जहाँ निरस्त्रीकरण होना चाहिए था, वहाँ बारूदों के ढेर लगा दिये। छोटे-छोटे बच्चों के स्कूलों से लेकर विश्वविद्यालयों तक, शहरों से लेकर भोले-भाले किसानों के गाँवों तक–भाई-भाई में, पड़ोसी-पड़ोसी में, दोस्त-दोस्त में ऐसी होड़ों, साजिशों और भितरघातों का धुँआ फैलाया है इस राजनीति ने कि विवेक की आँखें अंधी हो गयी हैं; सतकर्मों के हाथ लकवाग्रस्त हो गये हैं; सुपंथ के पैर लँगड़े हो गये हैं; मानवीय मूल्यों का हाजमा खराब हो गया है।। कौन सा बाहरी प्रदूषण यह काम कर पाएगा? लोफर-लफंगों, गुंडों, चोर-डाकुओं और स्मगलरों को शरण देती है राजनीति और योग्य, ईमानदार तथा सच्चरित्रों का दमन करती है। उच्च न्यायालय, सर्वोच्च न्यायालय, दफ्तर, कोर्ट-कचहरी आदि सब नेतागीरी की चपेट में आ गये हैं। किसी सामान्य या सीधे-सादे व्यक्ति का कोई काम यदि बिना सोर्स या पैसे के हो जाए तो समझिए कि यह आठवाँ आश्चर्य है।

सारे विश्व का धर्म एक ही है और वह है 'मानवता' लेकिन मानवता को प्रदूषित करनेवाले कुछ तथाकथित धर्म के ठेकेदारों ने एक मनुष्य को हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि अनेक सम्प्रदायों, जातियों, वर्गों में बाँट कर समाज और विश्व में ऐसा प्रदूषण फैलाया है कि चाहकर भी आदमी उसमें से निकल नहीं सकता। यदि सच कहा जाए तो यह धार्मिक प्रदूषण हमारा आभूषण बन गया है, जिसको बिना धारण किये हमारी शान में बट्‌टा लगता है। यदि कोई हमसे पूछे कि तुम आदमी हो या हिन्दू मुसलमान, तो हमारी पहली आवाज हिन्दू या मुसलमान होने की होगी–आदमियत की आवाज का नम्बर दूसरा ही होगा। इन मजहबों का मर्म बिना जाने लोगों ने ऐसी गलत व्याख्याएँ की हैं कि इनसान-इनसान के बीच, कभी न मिटनेवाली नफरत, विद्वेष, अलगाव, साम्प्रदायिकता, रूढ़ियों, कुरीतियों, ढोंगों, पाखंडों आदि का जहर फैल गया है कि मनुष्यता जराजीर्ण होती जा रही है।

इन तथाकथित धर्मों से कालान्तर में अधर्म पैदा हुआ और इस अधर्म को धर्म बनाकर, इसे अपनाने के लिए इनके मठाधीशों ने–पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, जन्नत और दोजख का भय दिखाकर समाज को सड़ी और विकृत रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, परम्पराओं और पाखंडों के कीचड़ में ऐसा लथेड़ा कि लोग मलिन होते रहे, इनके इशारों पर नाचते रहे, लुटते रहे और इनका स्वार्थ सिद्ध होता रहा। इनकी गद्दियाँ ऊँची होती गयीं और समाज दलदल में धसकता गया। आये दिन मन्दिर-मस्जिदों के पीछे इन्दू, मुसलमानों, सिक्खों के झगड़े, मारकाट, उग्रवाद, आतंकवाद, अलगाववाद आदि के पीछे धार्मिक प्रदूषण के ही वाइरस काम कर रहे हैं।

यही विकृत धर्मनामा अधर्म जब राजनीति का पल्ला थाम लेते हैं तो कोढ़ में खाज जैसा रोग फैल जाता है। फूट और साजिशों की हवा यहीं से फैलती है। अफवाहों की बदबू यहीं से उठती है। इसी के पर्दे के पीछे से गाय का गोश्त मंदिर में फैंक दिया जाता है और

सूअर का मस्जिद में। कहीं गीता फाड़ी जाती है, कहीं कुरान जलायी जाती है। देश का कौन सा बड़ा, छोटा शहर या गाँव है, जिसमें यह धार्मिक प्रदूषण न फैला हो?

इस संकीर्ण राजनीति और विकृत धर्म से हमारे समाज और संस्कृति को कुपोषण और 'फूड प्वाइजनिंग' जैसे रोग लगे हैं कि चारों ओर अमर्यादा के वमन (उल्टी) हो रहे हैं; उच्छृंखलता के दस्त चल रहे हैं; दुराचार का पीलिया हो रहा है; शील सदाचार को रक्त कैंसर हो गया है; बुद्धि विवेक पर मस्तिष्क-ज्वर हावी है। बाल-विवाह की टी० बी०, दहेज का मलेरिया, बेरोजगारी का जुकाम, भिक्षा-वृत्ति का कोढ़, असमान वितरण का हैजा आदि जल, वायु या ध्वनि प्रदूषण के परिणाम हैं अथवा मानवीय प्रदूषण के?? जिन्होंने भी इस प्रदूषण को मिटाने की कोशिश की, उनको इस समाज ने बख्शा नहीं। फलत: समाज-सुधारक दुश्मन बना दिये गये और दुश्मन समाज-सुधारक बन बैठे।

यहाँ जिस साहित्य की चर्चा होगी, उसे वस्तुत: साहित्य कहना ही, साहित्य शब्द पर कीचड़ फैंकना है। साहित्य तो वह होता है, जिससे मानवता का कल्याण हो; परन्तु आजकल ऐसा उच्च, आदर्श, स्तरीय और चरित्र विधायक साहित्य तो रद्दी की तरह उपेक्षित हो रहा है और अश्लील, सड़कछाप, घटिया उपन्यास, पत्रिकाएँ धूँआधार छप रहे हैं और हाथों-हाथ बिक रहे हैं। ऐसे साहित्य से समाज में, नग्नता, अश्लीलता, अमर्यादा, यौन भावना, अपहरण, बलात्कार, हत्या करने की नयी-नयी तरकीबें, षडयन्त्रों के नुसखे आदि भड़काऊ भाषा और आकर्षक रंगों में लिख-लिख कर तुरंत प्रकाशित और प्रचारित हो रहे हैं और नयी अपरिपक्व पीढ़ी इन बातों को आचारित कर पथ भ्रष्ट हुई जा रही है। कोई है इस प्रदूषण को रोकने वाला?

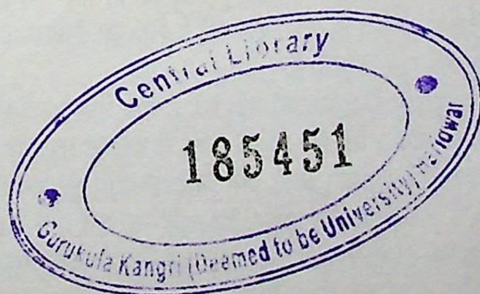
आजकल की फिल्में और दूरदर्शन की कुछ बातें मानवीय प्रदूषण को फैलाने वाले अति तीव्रगामी साधन हैं। गांधीजी ने कहा था कि "यदि सुखी रहना चाहते हो तो अपनी जरूरतों को कम करो।" लेकिन रेडियो और दूरदर्शन, जरूरतों की भूख बढ़ाने वाले टॉनिक का काम कर रहे हैं। नित्य प्रति नयी-नयी विलासिता बढ़ानेवाली वस्तुओं का निर्माण और फिर उनका धुँआधार विज्ञापन किसी अच्छे प्रोग्राम को देखने से पहले और बीच में तब तक बन्द नहीं किया जाता, जब तक कि आदमी अपना सिर दीवार में न दे मारे। पाँच मिनट के विज्ञापन पर जितना रुपया हवा में उड़ा दिया जाता है, उतना रुपया किसी मध्यम वर्ग के व्यक्ति ने पूरे जीवन में नहीं देखा होगा। यहाँ एक टॉफी की ललक में लड़की पटायी जाती है; एक पान पराग के पैकेट में दहेज समाप्त हो जाता है; एक बिस्कुट खाकर पहलवान बना दिया जाता है; साबुन से नहाकर कपिलदेव जैसे खिलाड़ी बन जाते हैं; क्रीम पाउडर पोतकर हीरो हीरोइन बन जाते हैं; ईश्वर के गुण गाने की बात को मारिए गोली अब 'यूनाइटेड के गुन गाओ' संसार सागर से तर जाओगे।

भोले-भाले और सादा जीवन बिताकर प्रसन्न रहनेवाले गाँवों के स्त्री-पुरुषों में भी इन विज्ञापनों की मोहक भाषा ने तृष्णाओं, इच्छाओं, वासनाओं की ऐसी भूख पैदा की है कि चाहे खाने को अनाज न हो, पर रंग रोगन, पाउडर, लिपिस्टिक और फैंसी कपड़े अवश्य चाहिए 'घर में नहीं हैं दाने अम्मा चली भुनाने।" इसका परिणाम होता है असंतोष, जलन, कुढ़न, फिजूलखर्ची और बर्बादी। निरोध, मालाडी, सहेली आदि नाना प्रकार के गर्भ निरोधक उपकरणों का इतने धड़ल्ले से विज्ञापन किया जाता है कि विवाहित दम्पत्तियों से अधिक इनके इस्तेमाल की कामना अविवाहित किशोर किशोरियों के मन में जग जाती है और इस कामना

को हवा देते हैं पूरा मुँह फाड़कर लाउडस्पीकरों में बजने वाले ऐसे प्रेरक फिल्मी गाने कि 'चोली के नीचे क्या है, चुनरी के पीछे क्या है?' फिर तो घात लगाकर नीचे और पीछे देखना शुरू हो जाता है। इन सब कारणों से जनसंख्या तो नहीं रुक पायी भ्रष्टाचार चौगुना बढ़ गया है।, 'सादा जीवन उच्च विचार" वाली उक्ति अब उलटकर 'ऊँचा जीवन नीच विचार' बन गयी है।

छोटे-छोटे अबोध बच्चे जिनपर अभी ठीक से वर्णमाला भी नहीं आती, वे भी अश्लील फिल्मी गानों के वेदमंत्रों का उच्चारण करते हुए गलियों में, सड़कों पर , घरों में, आँख मिचकाते, सैन चलाते, कूल्हे मटकाते, ढिसुम्-ढिसुम् करते, फिल्मी अंदाज में केश विन्यास, वेशभूषा और चाल चलगत के नये तेवर लिये आपको ठेंगा दिखाकर निकल जाएँगे। यह कौन सी सभ्यता और संस्कृति का उन्नयन है?

चारों ओर मद्य-निषेध, धूमपान निषेध आदि के नारे और विज्ञापन भी हैं और दूसरी ओर करोड़ों के शराब के ठेकों और बीड़ी, सिगरेट, सुर्ती, खैनी आदि की फैक्टरियों को, घूस ले-लेकर लाइसेंस भी दिये जा रहे हैं। हद हो गयी पर्यावरण सुधार की। नशीली ड्रग्स खिला-खिलाकर नौजवानों को जीते जी मार देना, अबोध बालक, बालिकाओं के अपहरण कर उनसे भीख, चोरी, वेश्यावृत्ति और स्मगलिंग कराना, आतंक और उग्रवाद को बढ़ावा देने के लिए शस्त्रों का प्रशिक्षण देकर देशद्रोह की भावना पैदा करना, विश्व के किस प्रदूषण से कम है? वृक्षों की कटान से अधिक यहाँ सच्चाई, ईमानदारी, नीति-न्याय और सद्विचार काटे जा रहे हैं। वायु प्रदूषण के विष से भी अधिक यहाँ छल-छद्म और अफवाहों से समाज में पथभ्रष्टता का जहर फैलाया जा रहा है। ध्वनि प्रदूषण से भी अधिक इस देश के मसीहा यहाँ भय, आतंक, फूट और साम्प्रदायिकता बढ़ानेवाले भाषणों और बयानों से मानवता को बहरा बनाये दे रहे हैं।



१२. चिट्ठी

चिट्ठी शब्द "पत्र" का पर्याय है और पत्र शब्द के कई अर्थ कोशों में लिखे हुए हैं, जैसे पत्ता, पृष्ठ, समाचार-पत्र, लिखा हुआ कागज, अभिलेख, धातु की चद्दर, खत आदि। किन्तु मुझे इस संदर्भ में चिट्ठी शब्द अन्य किसी शब्द से अधिक ठीक और सटीक लगता है–न जाने क्यों? पत्र या अन्य किसी शब्द में वह लोक सम्प्रेषणीयता नहीं दिखती जो चिट्ठी शब्द में है। चिट्ठी शब्द ठीक तीर का व्यंजना धर्मी है और यह तीर युद्ध में प्रयुक्त होनेवाला नहीं है, जो मारता है अपितु यह कबीर का तीर है जो भीतर घायल करता है, घाव को अच्छा भी करता है। बाहर सुन्न करता है, भीतर जगाता है। यह ऐसा विरोधाभासी तीर है जो खुद चलानेवाले की गुह्य-गोपनीय बातों, मानवीय दोषों और विकारों रूपी अंतड़ियों को अपने मित्रों और स्नेहियों के सामने निकाल कर रख देता है।

चाहे तो जान्सन के शब्दों में पत्र को 'पत्र लेखक के हृदय का दर्पण'' कहें और चाहे रिचार्ड्सन के शब्दों में "पत्र लेखक के जीवन का अध्ययन करने वाला प्रारम्भिक आधार" बोलें। चाहे जानकी वल्लभ शास्त्री की परिभाषा पत्र को "अविकल राग-विराग हर्ष-विषाद, कठोरता, विह्लता, निर्विकार-विकार, निश्चय चांचल्य, असाधारण, साधारण एवं अक्लिष्ट ऋजुता का प्रतिमान" कहें, अथवा डा० नगेन्द्र की वाणी में "पत्र लेखक के अन्तः स्वरूप को सही रूप में आँकने वाला कृतित्व हो। चाहे हरिशंकर शर्मा पत्र को किसी के भाव, प्रभाव, स्वभाव, और व्यक्तित्व को जानने में सहायक बताएँ अथवा डा० अम्बाप्रसाद सुमन "पत्र को लेखक और प्राप्तकर्ता दोनों के मिलन (पूर्ण मिलन) का माध्यम बताएँ।" पर निचोड़ यही है कि उपयुर्क्त तत्त्वों को समेटे हुए चिट्ठी, लिखनेवाले के अन्तस्तल का फरमान है और पानेवाले के लिए सम्भावनाओं की आहट। चिट्ठी लेखक के भीतर का फोटो या ऐक्सरे है, जो पाठक के सामने उसके भाव और संस्कार, ज्ञान और विज्ञान, आकर्षण और विकर्षण, प्रवृत्ति और निवृत्ति, भूल और पश्चात्ताप के चित्र प्रस्तुत कर देता है।

सम्भवतः अपने आपसे दूर, अपने प्रिय परिचित की व्याकुल प्रतीक्षा के धैर्य का जब बाँध टूटा होगा तो चिट्ठी की अन्तः सलिला फूट कर बही होगी। पत्र साहित्य का उद्‌भव और विकास मैं नहीं लिखना चाहता, या कही हुई को कहना नहीं चाहता। मैं तो इस शब्द के भीतर घुसकर देखना चाहता हूँ–और देखा भी है कि, इन विविध प्रकार की चिट्ठियों ने जिन्दगी में क्या-क्या गुल खिलाये हैं?

चिट्ठी शान्त सरोवर में तूफान भी उठा देती है और सूखे हुए पोखरा के लिए आषाढ़ के पहले दोंगरा का भी काम करती है। भीषण तपन में बरसात का और बरसात में भीषण उमस का अनुभव कराती है। अर्थात् अपने प्रिय व्यक्ति के साथ हुए झगड़े, कत्ल, लूट आदि की खबर से आदमी के मन में आक्रोश, क्षोभ, द्वेष आदि उठ खड़े होते हैं। जीवन से निराश हुए व्यक्ति के लिए आशा का शुभ-संदेश लेकर आई हुई चिट्ठी सूखे पोखरा के लिए बरसात का आनन्द देती है और आनन्दमय जीवन बितानेवाले व्यक्ति के लिए निलम्बन, सेवा समाप्ति या स्वजन की मृत्यु का संदेश लेकर आनेवाली चिट्ठी रिमझिम शीतल फुहारों में भी पसीने से तर-ब-तर कर देती है।

खोल कर पढ़ने से पहले, चिट्ठी पढनेवाले को संनिपात का सा कम्पन दे देती है

और खोल कर पढ़ने के बाद या तो क्षणिक सुख के उन्माद से उछाल देती है या अशुभ का चित्र दिखा कर आदमी को चित्र लिखा-सा खड़ा कर देती है। 'जकी सी टकी सी लगी थकी थहरानी सी।' (रत्नाकर)

चिट्ठी का आगमन उस आँधी के समान होता है जिसमें सुख और दुख के इकट्ठे किये हुए तिनके आकाश को उड़ जाते हैं और चिट्ठी ऐसे कूढ़े के समान भी है जिससे हृदय की रद्दी की टोकरी भर जाती है। चिट्ठी कहीं ग्रन्थ बनकर अमर भी हो जाती है और कहीं देखते ही जलाकर दफन कर दी जाती है। कभी-कभी यह अमर बेल के समान दूसरों का खून चूसती है और कभी-कभी 'अमरमूर' बनकर आत्महत्या के लिए उद्यत व्यक्ति को खींच, जीवन का संदेश भी देती है। चिट्ठी मर्ज भी है, मरीज भी है और इलाज भी। चिट्ठी कर्ज भी है, कर्जदाता भी है और कर्जदार भी।

पुण्यों के फलीभूत होते समय, शत्रुओं की चिट्ठियाँ भी मित्र बनकर गले आ लगती हैं और पापों के फलते समय मित्रों की चिट्ठियाँ भी तलवार की धार का काम करती हैं। चिट्ठियाँ बेदखल भी करती हैं और दखल भी दिलाती हैं। पराये घर में दाखिल भी कराती हैं और अपने ही घर से निष्कासित भी। किसी की चिट्ठी जब किसी दूसरे के पास पहुँच जाती है तो हलक की बात खलक में फैल जाती है। आदमी के सारे गोपनीय भेदों का सबको पता चल जाता है। अर्थात् चिट्ठी छिद्रान्वेषण भी कराती है।

अपने कुकर्मों का अभियोग-पत्र, चोरी के धन की तरह, भीतर ही भीतर पचा लिया जाता है तो पुरस्कार प्राप्ति का पत्र सर्वत्र अपनी चर्चा करता फिरता है। चिट्ठी के आगमन की प्रतीक्षा सचल बेकरारी है, तो प्राप्ति अचल अन्यमनस्कता और उद्विग्नता तथा स्पृहा।

चिट्ठी ऐसा शान्त किन्तु भयंकर वात्याचक्र है, जो वृक्ष की टहनियों पर लगे कोमल पत्तों को कहीं से कहीं पहुँचा देता है। साखों से टहनियों को अलग कर देता है। पेड़ को धरती से समूल उखाड़ फेंकता है। बादलों को उड़ाकर अन्तरिक्ष में ही विलीन कर देता है। अपनी ही लहरों से सागर के किनारों को ढहा देता है। उल्लास के रस में विष का वास करा देता है। अर्थात् कुछ चिट्ठियाँ ऐसी होती हैं जो हमारे शान्त और एकाग्र चित्त में खलबली पैदा कर देती हैं। मूल विषय में लगे हुए हमारे भावों को अस्त व्यस्त कर देती हैं। हमें आत्मस्थ नहीं रहने देतीं। चिट्ठी सोते हुए को जगा भी देती है और जागते हुए की सिट्टी-पिट्टी गायब भी करा देती है।

चिट्ठी ज्ञान के सूरज को जन्म देनेवाली और अंधकार को विदीर्ण करनेवाली उषा की लाली के समान भी है। सच्चे गुरु की चिट्ठी शिष्य के अहंकार को नष्ट करती है, जबकि सिर्फ गुरु का अभिनय करनेवाले, गुरु घंटालों की, प्रशंसा भरी चिट्ठी, शिष्य का पतन बन जाती है। चिट्ठी विरक्ति का मंत्र भी है और अनुरक्ति का तंत्र भी। संसार से विरक्त हुए तुलसीदास जी ने श्री राम को चिट्ठी लिखना आरम्भ किया था जो विनयपत्रिका के नाम से लौकिकता से अलौकिकता में पहुँचने का सोपान बन गयी।

जिसके पास रोजाना चिट्ठियों का पुलन्दा आता है, वह झल्लाकर बिना पढ़े ही कूड़ेदान में फेंक देता है और जिसे दो-चार महीने में कोई चिट्ठी मिलती है, वह जेब में सँभाल कर रखता है। माँ-बाप की चिट्ठी मोह की पुड़िया है और स्वार्थियों की चिट्ठी जहर की।

चिट्ठी पलायनवादिता का संदेश है। चिट्ठी आने के अंदेशे से आदमी गाँव, नगर, जिला, प्रदेश, देश सब छोड़ कर फरार हो जाता है। जैसे सरकारी कर्जदार, चोरी-डकैती

में नामित अभियोगी, किसी के लिए भाग-दौड़ से जान बचानेवाला स्वार्थी आदमी, इन विषयों से संबंधित पत्रों के आगमन की सूचना से नौ दो ग्यारह हो जाता है। वेश बदल लेता है। आवाज, बोली, चाल, ढाल सब बदल लेता है। दूसरों को पहचान कर खुद अनपहचान हो जाता है। उसके अवचेतन में घुसी चिट्ठी दृष्टि को संदिग्धता का चश्मा पहना देती है। डाकिया की खाकी वर्दी पुलिस की वर्दी दिखायी पड़ती है, दूसरों के हाथ में लगी हुई चिट्ठी अपनी गिरफ्तारी का वारन्ट दिखायी देती है। घर से, जमीन-जायदाद से, बाल बच्चों से ऐसा अलगाव करती है यह चिट्ठी कि या तो आदमी अपने घर में, आधी रात को आँख बचाकर चोरों की तरह घुसता है, या दूर देश में पहुँचकर सिर्फ सपनों में अपनों को देखता है, सोच की पर्तों में उनसे बात कर लेता है - पर फिर चिट्ठी लिखने का नाम नहीं लेता। चिट्ठी के आगमन की प्रतीक्षा भी नहीं करता।

चिट्ठी आकर्षण की चुम्बक भी है। प्रेम-पत्र, विवाह की तारीख का पत्र, नौकरी की नियुक्ति का पत्र, पदोन्नति का पत्र, प्रकाशन की स्वीकृति का पत्र, पुरस्कार प्राप्ति का पत्र, मुकदमे की जीत का पत्र, आदि अनेक सूचनाओं के पत्र किसी भी बाहरी चुम्बक से कहीं अधिक चुपक शक्ति रखते हैं। इस प्रकार के पत्र स्वयं एकान्त में सीनों से चिपकते हैं।। ओठों से चिपकते हैं। पोस्टमैन आँखों में बस जाता है। प्रेमी-प्रेमिका दिल की भीतरी धड़कनों में एक-दूसरे से चिपके रहते हैं। चिट्ठी वियोग की पीड़ा भी है और संयोग की क्रीड़ा भी।

प्रधानमंत्री की एक चिट्ठी, निरन्तर ख्याति प्राप्त करनेवाले मुख्यमंत्री की हृत्तंत्री बन्द भी कर देती है और किसी रबड़ की मुहर को सर्वे-सर्वा भी बना देती है। एक समाचार पत्र दुनिया में चिल्लाता फिरता है और एक पत्र एक ही व्यक्ति के तहखाने में डूब जाता है। युद्ध काल में ऊपर से फौज के कमाण्डर को लिखा हुआ पत्र हजारों बेगुनाहों को मरने-मारने के लिए मजबूर कर देता है और किसी भारी खुशी में एक जेलर को लिखा गया पत्र हजारों बेगुनाहों को भी सीखचों से बाहर कर देता है।

चिट्ठी क्रोध का ठंडा शोला भी है। चिट्ठी उद्विग्नता की मुखर बलबलाहट भी है। सेवा, प्रेम, त्याग, सहयोग, बंधुत्व जैसे उच्च भावों को हृदय से निकाल फेंकने के लिए कभी कभी चिमटी का काम भी करती है चिट्ठी। जैसे अपनी बुद्धि से अपने ही जीवन का निर्णय न करनेवाले बुद्धिहीन, अपने अच्छे-बुरे कर्मों का ज्ञान न रखनेवाले कर्महीन, अपनी दूरदर्शिता से काम न लेनेवाले आँखधारी अँधे, औरों से पिटकर औरों के दरवाजों पर जाकर रोनेवाले कायर, जब अपनी समस्याओं के समाधान के लिए दूसरों को बार-बार चिट्ठी लिखते हैं तो कालान्तर में एक दिन ऐसा भी आता है कि सदा सहयोग देनेवाला व्यक्ति असहयोगी हो जाता है। सदा प्रेम से गले लगनेवाला घृणा से मुँह फेर लेता है। सब कुछ देनेवाला फिर चिट्ठी का जवाब भी नहीं देता। पास जाना और बुलाना भी छोड़ देता है। चिट्ठी देखकर बौखला जाता है। अनाप-शनाप बड़बड़ाता है।

शोक-संवेदना में लिखी दो वाक्यों की चिट्ठी से ही कहीं बौद्धिक संवेदना पोस्ट कर दी जाती है तो कहीं नव वर्ष और विशेष पर्वों के छपे छपाये कार्ड बिना बादल के ही श्री सुख-समृद्धि की वर्षा करते हैं। हर नौकरी में, हर दफ्तर में, हर विभाग में, कहीं की ईंट कहीं के रोड़े इकट्ठे करके इन चिट्ठियों ने बड़े भानमती के कुनबे जोड़े हैं।

सांसारिक जंजालों में कुढ़ा-कुढ़ा कर मारने के लिए चिट्ठी राग की आग भी है तो सब नाते-रिश्तों के झाग को विलीन कर देनेवाला विराग भी है। याद आ गई तुलसी की

चिट्ठी मीरा के नाम -

"जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।।"



१३. रोटी

रोटी क्यों खाते हैं हम? जीने के लिए ! जीते क्यों हैं हम? रोटी के लिए ! यही दर्शन है आम आदमी के जीवन का। पर, पेट भरने और केवल जीने के अलावा कुछ और भी देती है रोटी, कभी सोचा है आपने?

रोटी का अर्थ, मान है–जिसके पास है। रोटी का अर्थ, अपमान है–जिसके पास नहीं है। रोटी का अर्थ, अभिमान है–जिसके पास अधिकायत में है। रोटी का अर्थ ज्ञान है–जो मूल से उसको जानता है।

एक भिखारी है बूढ़ा ! बूढ़ा वास्तव में वह है नहीं। रोटी कहती है बूढा हो जा। अंधा बन जा। कमर झुका। लँगड़ाकर चल। गिड़गिड़ाकर बोल ! और रात के अँधेरे में शराब की भट्टी पर मुट्ठी तान अकड़ जा ! और वह हूबहू यही करता है। कितना आज्ञाकारी है रोटी का।

शुरू-शुरू में रोटी को उस पर दया आयी थी। अब गुस्सा आता है। ऐसा गिड़गिड़ाता आदमी। दुम हिलाता आदमी–रोटी को भी पसंद नहीं। क्या आपको पसंद है? कभी सोचा है आपने?

वह आकर दरवाजे पर जोर से फैंकता है नमस्कार। उसके नमस्कार का अर्थ रोटी है। वह पुकारता है 'ए दुलहिन।' उसकी दुलहिन का अर्थ रोटी है। वह बोलता है 'ए बहिनी।' उसकी बहिनी का अर्थ रोटी है। वह कहता चलता है 'राम-राम।' उसके राम का अर्थ रोटी है। इसकी व्यंजना में, और आज के नेता के बिम्ब में कोई अन्तर लगा? कभी सोचा है–आपने? एक रोटी का भिखारी! एक वोट का भिखारी है।

रोटी उसके चारों ओर गाती है। अँगूठा दिखाती है–पर हाथ नहीं आती है। उसके चार फीट आगे-आगे चलती जाती है। दूसरे दरवाजे तक लेजाकर भीतर सरक जाती है। और फिर एक नये तेबर की दुतकार के साथ उसके ऊपर उछाल दी जाती है। उसकी गुदड़ी में रोटी। उसके थैले में रोटी–पर पकड़ में नहीं आती। क्या हमें भी जो कुछ मिला है, उससे एक क्षण की भी तुष्टि मिली? कभी सोचा है आपने?

रोटी उसकी आँखों का नूर है; अँधेरे का दिया है। रोटी उसके हाथ की लकड़ी है; आशा है–निराशा है। रोटी उसकी खुशी है–रोटी उसका गम है। रोटी उसके जी का जंजाल बन गयी है। या तो रोटी ही होती या यही होता! क्यों बनाया इन दोनें को? क्या हम इससे अलग हैं? कभी सोचा है आपने?

अब भिखारी पर नहीं,–मुझे रोटी पर गुस्सा आता है। सारा बखेड़ा इसी ने खड़ा किया है। इसी ने भाई को भाई से लड़ा दिया है। इसी ने बाप से बेटे को जुदा किया है। रोटी न होती तो मंदिर न होता। रोटी न होती तो मस्जिद न होती। रोटी न होती तो हिन्दू न होता। रोटी न होती तो मुस्लिम न होता। रोटी न होती तो घूस, बेईमानी, चोरी, वोट, राजनीति-कुछ भी न होता। धर्मनिरपेक्षता, एकता, अखंडता – कागज के शब्द थे, जो मानव की कपटाग्नि में रोटी के साथ सिक–राख हो गये हैं अब। न मंदिर की लड़ाई है, न मस्जिद की लड़ाई है–रोटी से बोटी और बोटी से–वोट की कमाई है। कभी सोचा है आपने?

गजब है कि फिर भी हम, जाने कब से खा रहे हैं रोटी को। सुबह- खाते हैं, दोपहर खाते हैं–रात खाते हैं–तो भी नहीं अघाते हैं। क्या कभी रोटी भी हमें खाएगी? शायद आज रोटी ही हमें खा रही है–छोड़ रही है उस इनसान को, जिसमें प्रेम की आग है, सद्भाव है और त्याग है। कभी सोचा है आपने?

जहाँ रोटी है–वहाँ से भूख गायब है; जहाँ भूख है–वहाँ से रोटी गायब है। रोटी की कोई जाति नहीं–हर जाति में रोटी है। रोटी का कोई धर्म नहीं–हर धर्म में रोटी है। रोटी ही सिर्फ रोटी है–ईश्वर से बड़ी–अल्लाह से बड़ी! जीसस से बड़ी, नानक से बड़ी। यही एकता है, यही अखण्डता है। इसीलिए यह, न आधी माँगी जाती है, और न दी ही जाती है। काश़ आदमी भी सिर्फ आदमी ही होता रोटी की तरह। रोटी जो दूसरों के द्वारा, दूसरों के लिए ही है–उसे खाकर हम जातिवादी, साम्प्रदायिक कैसे हो गये हैं–कभी सोचा है आपने?

लौटकर देखें हम आज, आदि मानव को। रोटी का नाम भी हुआ नहीं था पैदा तब। कितने घने जंगल थे। पेड़ों के झुरमुट थे। खूब घनी वर्षा थी। नदियाँ थीं–झरने थे। विरल-विरल लोग थे। धरती वसुंधरा थी-जाति हीन-धर्महीन–प्रेम ही तो धर्म था तब। दो ही जातियाँ थीं तब–एक जाति मानव की–एक जाति पशुओं की। सोचा है आपने?

रोटी का जन्म हुआ। बढ़ती गयी–बढ़ती गई–खा-खा कर जंगलों को–पी-पी कर बादलों को–सोख-सोख नदियों को–बाँट-बाँट मानव को–पाल-पाल दानव को !! बुरों को बड़ा किया–अच्छों को मिटा दिया। भिखारी को गली और नेता को कुर्सी और जनता को खुदा की–नहीं–'बाबरी' दिखा दी आज राम की अयोध्या में !!



१४. प्रसन्नता

कितना ही हम दूसरों के सामने होंठ फैलाकर अपनी मुसकान का इंतजार करें, लेकिन भीतरी तल पर किसी अज्ञात बैचेनी का धुआँ-सा भी घुटता हुआ महसूस होता है। कितना ही हम दूसरों, विशेषकर अपने समान धरातल के परिचितों की प्रशंसा सुनकर वाह-वाह करें, लेकिन भीतर एक ज्ञात ईर्ष्या की दहक-सी भी सुलगती हुई लगती है। कितना ही हम दूसरों की प्रसन्नता में अपनी कृत्रिम प्रसन्नता घोलने का दिखावा करें, लेकिन भीतर किसी विषाद के बबूले-से भी बुद्बुद करते हुए अनुभूत होते हैं। हमारी जिन्दगी मिलावटी चीजों का मिश्रण सा बनकर बाजारू हो गयी है ; 'कुछ हँसीं ख्वाब और कुछ आँसू जीवन की यही कमाई है।'

मक्खी पड़े हुए दूध को पवित्र तो नहीं कहा जा सकता ; अँधेरे में थोड़ी सी बिजली की चमक को प्रकाश तो नहीं कहा जा सकता। वैसे ही जिस प्रसन्नता की भीतरी सतह पर खिन्नता, कुंठा और विषाद भी प्रवाहित होते रहते हों, उसे प्रसन्नता तो नहीं कहा जा सकता–खिन्नता को ढकने का पर्दा भले ही कहा जा सकता है। फिर भी कोई इस मिश्रण को वास्तविक प्रसन्नता बताए, तो बताए–उससे मनुष्य की असलियत पर फर्क आनेवाला नहीं। गर्द-गुब्बार भरी आँधी को यदि कोई शीतल, मंद, सुगंधित समीर बताए तो क्या मौसम बदल जाएँगे?

'वादे सरसर को अगर कोई कहै मौज ए नसीम–
इससे मौसम में कोई फ़र्क नहीं आएगा।'

जिन्दगी, जन्म और मृत्यु का अथवा आवागमन का, चक्र कही जाती है। मूलत: यह आना और जाना सिर्फ एक तलाश है–वास्तविक प्रसन्नता की, जिसे हम धन के द्वारा खोजते हैं, लेकिन कितना ही धन हो जाए,–अन्त में दुख ही हाथ आता है कि निर्धन ही रहे। हम खोजते हैं उसे संबंधों के प्रेम से, लेकिन कितना ही हमारा व्यक्ति-प्रेम घनिष्ठ हो जाए,–अन्त में घृणा ही हाथ आती है कि 'स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।' हम मित्रता के द्वारा खोजते हैं उसे, लेकिन कितने ही घनिष्ठ मित्र हो जाएँ, मुसीबत में साथ छोड़ ही जाते हैं कि 'तारीक़ी में साया भी जुदा रहता है इंसाँ से।' पद, प्रतिष्ठा, झूठी शान-शौकत आदि कुछ भी वास्तविक प्रसन्नता के आगमन के द्वार नहीं बनते, बल्कि निकास बन जाते हैं और आहों से अन्त में यही पुकार उठती है कि –

'एक दिल का दर्द, कि रहा जिन्दगी के साथ–
एक दिल का चैन, कि सदा ढूँढ़ते रहे।'

ढूँढ़ते रहे बाहर के उपादानों में, इसीलिए प्रसन्नता मिली नहीं। जिसका अधिवास भीतर हो, वह बाहर मिले भी कैसे? 'कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढै बन माँहि।' मृग ही पागल नहीं है जो हम उसका उदाहरण देकर अपने आप को ज्ञानी समझ रहे हैं–हम भी वही हैं, और जनम-जनम से उसे खोज रहे हैं पर भेंट नहीं होती है। भेंट भी कैसे हो? भेंट तो उससे होती है, जिसका अस्तित्व हम से अलग हो और प्रसन्नता हमारे हृदय की हिलोर है, जिसका अनुभव ही किया जा सकता है। शान्त होकर उसका अनुभव कहाँ करते?

हमतो प्रबुद्धता और गंभीरता का चेहरा ओढ़कर बड़े सयाने बन जाते हैं। कवि, दार्शनिक और तत्त्व चिन्तक बनकर जीवन की मीमांसा करने लगते हैं। सामने सुख ही सुख है, लेकिन हम चौदह भुवनों की तलाशी लेकर, एक अटल निर्णय के साथ फ़ाइल बन्द कर देते हैं कि,

'चेतना विकल फिर आयी मेरी चौदहौ भुवन में।
सुख कहीं न दिया दिखायी विश्राम कहाँ जीवन में।।'

कैसे मिले विश्राम? कि जब शीतल छाया में बैठे हों और चिन्तन चल रहा हो धूप का! कैसे मिले आराम? कि जब सावन की उमड़ती घटाएँ घिरी हों, – रिमझिम फुआरें पड़ रही हों, बिजली की चमक से बगिया जगमग हो उठती हो और हम दर्शन की कलम से सुख को दुख के दायरे में बन्द कर दे रहे हों कि –

'सुख बिजली सा दुख घन में।'

फिर कैसे न घेर ले दुख, घनीभूत होकर, हमारे सारे जीवन को, कि जब एक क्षण को चमक कर ही, हमें दस कदम आगे का रास्ता दिखा जानेवाली बिजली की, कोई अहमियत नहीं समझेंगे तो। वरना एक क्षण के लिए चमकनेवाली यह बिजली नहीं, प्रसन्नता की नाव है, जिससे एक पल में समन्दर जैसे गहरे अँधेरे पार हो जाते हैं ; **'एक सफ़ीना है तेरी याद, एक समन्दर है मेरी तनहाई।'**

लेकिन तनहाई में हम याद भी करते हैं तो क्या याद करते हैं? फूलों में काँटों को याद करते हैं ! अमृत में जहर को याद करते हैं। स्वर्ग में नरक को याद करते हैं। गुणों में अवगुणों को याद करते हैं। पर ऐसी कोई प्रसन्नता की घड़ी याद नहीं आती, जिसमें कोई खिन्नता मिली हुई न हो :

'मुझे तो याद नहीं है ऐसी खुशी कोई–
शरीक़ जिसमें किसी तरह का मलाल न था।

इसीलिए खुशी की फुलझड़ी नहीं, 'दुख ही जीवन की कथा' बनकर रह जाता है। और जब दुख की ही कहानी बन गयी जिन्दगी, तो फिर उसमें प्रेम के लिए, प्रगति के लिए, उत्सव के लिए, उत्साह के लिए जगह कहाँ? वहाँ स्वीकृति नहीं, धिकृति होती है। जीवन की नहीं, खुदकुशी की पुकार होती है कि–

'जिन्दगी दरिया–ए–बे हासिल है और किश्ती खराब,
अब तो घबराकर दुआ करता हूँ तूफाँ के लिए।।'

मेरे ख्याल से कोई विरला ही मनुष्य भले ऐसा हो, जिसने जीवन में कभी इस तूफान की दुआ न माँगी हो। मैंने भी माँगी है यह दुआ कई बार, जिसका प्रमाण है – 'अभी मैंने जी भर के देखा नहीं है, बस अब जिन्दगी में क़हर चाहता हूँ।'' अब सोचता हूँ, क्यों यह क़हर चाहा था मैंने? इसलिए कि सुख चाहा था और वह नहीं मिला, उसका भाई मिल गया तो कहर के सिवाय और कुछ समझ में नहीं आया। भुला बैठा सिक्के के दूसरे पहलू को और चाहने लगा तूफान, चाहने लगा दुखों का भीषण ताप कि पिघल कर गल ही जाए समूचा अस्तित्व :

'बने चंड झंझा वे शीतल हवाएँ,
करें भीम गर्जन रुपहली घटाएँ
न आयें दुआएँ किसी मौन सुख की,
पसीने से होना मैं तर चाहता हूँ।'
बस अब जिन्दगी में कहर चाहता हूँ।।' (दरवेश)

प्रसन्नता पर लिखने चले थे और उबली पड़ रही है, खिन्नता। बड़ी हैरानी की बात है परन्तु एक अनुभव पक्का हुआ कि हम जिसे खोजने निकलते हैं, वह पहले प्रयास

में नहीं मिलता, उसके विपरीत तत्त्व बिना खोजे ही आसानी से मिल जाते हैं। मिल ही नहीं जाते, वे हमारे निकलने की प्रतीक्षा में दरवाजे के बाहर ही लुके-छिपे रहते हैं कि निकलते ही हमारा दामन थाम लेते हैं। इसीलिए यहाँ प्रसन्नता से पहले खिन्नता और दुखों का रेला आ गया। आता ही है। क्योंकि–

जब-जब हमने सोच समझ कर प्रसन्न रहने की कोशिश की है, तब-तब विषादों ने हमारी राह रोकी है। जब-जब हमने सुखी रहने के इन्तजाम किये हैं, तब-तब दुखों ने हमें घेरा है और इन्हीं में उलझते-सुलझते, कोसते-रोते उस क्षण में प्रविष्ट हो जाते हैं, जिसके आगे कोई राह नहीं होती। चीख के द्वार से आयी जिन्दगी आह के दरवाजे से निकल जाती है। बचपन के बाद, कभी प्रसन्नता ने हमारी बाँह पकड़ी हो, सो याद नहीं। किसी पन के किसी पल को हमने जीया नहीं। जीने की कला न आयी। बचपन आया तो हम जवानी और बुढ़ापे में जिये। बड़ों के जूते कपड़े पहने, बड़ों की तरह चले, बड़ों की तरह बोलना सीखा–बचपन आया भी और किसी विदेशी पखेरू की तरह फुर्र से उड़ गया। अब कोई उसकी चहक बाकी नहीं।

बड़े-बूढ़े हुए, धन में जिये या काम में जिये। बुरा काम आया, तुरंत कर डाला। अच्छा काम आया, कल पर टालते गये। समस्याएँ आयीं तो सिकुड़कर बचपन में पहुँच गये कि यही उम्र अच्छी थी कि न कोई चिन्ता न फिक्र, न काम न लोभ, न ईर्ष्या, न द्वेष। हाथ चंगा हुआ, फैलकर भविष्य में पहुँच गये! यह करेंगे, वह करेंगे। बच्चों के लिए, प्रतिष्ठा के लिए, झूठ बोला, बेईमानी की, स्वाभिमान बेचकर इज्जत कमायी। बच्चे सयाने हुए–उपेक्षा मिली, अपमान मिला। मन आध्यात्मिक हुआ, किसी सम्प्रदाय की शरण ली, कोई गुरु याद आया, दीक्षित हुए, सत्संग में जाने लगे, **'उम्र तो सारी कटी इश्क के बुता में मौमिन'** – लेकिन आखिरी वक्त में मुसलमान, इसलिए हो गये कि मरने के बाद जन्नत मिल जाएगी – लेकिन जीने का सलीका न आया–

'बस इसी धुन में रहा, मर के मिलेगी जन्नत,
तुझको ऐ शेख न जीने का करीना आया।'

जो जीते जी नहीं मिला, वह मरने के बाद क्या मिलेगा? सिर्फ एक धोखा है। जीने का अर्थ सिर्फ वर्तमान में प्रतिफलित होता है। अतीत की याद कब्र पर सिर फोड़ना है और भविष्य अनागत संभावना। न कब्र के मुर्दे बोलते हैं और न कल के सपने आकार पाते हैं, केवल वर्तमान के क्षण से हमें टरका ले जाते हैं। भटकते हैं फिर, इस इच्छा की पूर्ति के लिए इस दरवाजे, उस स्वार्थ को साधने के लिए उस दरवाजे। इस कामना की पूर्ति के लिए, इनके पैर पकड़े। इस पद को पाने के लिए इनके तलवे चाटे–और फिर अकड़............ ठहाके..........बड़ी-बड़ी बातें..........बड़े-बड़े मंसूबे..........खुशियों की बारातें...... । अरे

'क्या मसर्रत का ठिकाना क्या खुशी का ऐतबार?
एक के घर से निकलकर दूसरे घर में घुसा।'

यही भिखारियों की सी दर बदर जिन्दगी है हमारी! प्रसन्नता कहाँ मिले? खोजते हैं उसे इस वस्तु की प्राप्ति में – उस सहारे के आधार पर।

जो मर गया है अतीत – वह हमें क्षण-क्षण मार रहा है और जो अभी पैदा भी नहीं हुआ, भविष्य वह हमें प्रतिपल भरमा रहा है।

प्रसन्नता वर्तमान – क्षण के दरवाजे से प्रविष्ट होती है लेकिन उस दरवाजे को बन्द

कर, हम अतीत और भविष्य की दीवारों को तोड़कर उसके कूद पड़ने की बाट जोहते हैं। वह हमें चारों ओर से घेरे हुए है, लेकिन हम कहीं और फँसे हैं। निमंत्रित महमान आकर लौट न जाए तो और क्या करे? जब मेजबान घर का ताला बन्द कर, कहीं बाहर निकल गया हो! हम कभी मौजूद ही नहीं रहते अपने घर में, और प्रसन्नता 'सूने घर का पाहुना ज्यों आया त्यों जाइ।'

प्रसन्नता हमारे आस-पास, धूल में खेलते निर्द्वन्द्व बच्चों में हमें पुकार रही है। जिन्होंने उसे पहचाना, उन्होंने पा लिया और बता भी गये कि, 'धूल की ढेरी में अनजान, छिपे हैं मेरे मधुमय गान।' लेकिन हम तो बड़े सभ्य और पवित्र लोग हैं। छी-छी कितने गन्दे बच्चे हैं धूल-मिट्टी में खेल रहें हैं .... तबियत खराब हो जाएगी .... चप्पल पहनो .... बाहर मत जाओं!! हम जीवन को प्रसन्न बना रहे हैं!! प्रसन्नता हमारे सामने फूलों में महक रही है। खिल-खिल कर फूल कह रहे हैं –

'हँसमुख प्रसून सिखलाते क्षण भर भी तो हँस पाओ!
अपने उर की सौरभ से जग का आँगन भर जाओ।।'

लेकिन हम तो उनकी हत्या कर के हलाल होनेवाले बकरों की गर्दनों में बाँध रहे हैं और पत्थर के भगवानों के सिर पर चढ़ा रहे हैं ताकि जीवन की खुशी मिल जाए!

प्रसन्नता हमारे सामने पेड़-पौधों में झूम रही है और हम उन्हें काटने पर तुले हैं। प्रसन्नता चाँद-तारों में चमक रही है और हम कमरों में बन्द होकर टी० वी० देख रहे हैं। प्रसन्नता प्राकृतिक हवाओं में सिहर रही है और हम पंखा और कूलरों में सो रहे हैं। प्रसन्नता हमारी पत्नी में छिपी हमें समर्पण कर रही है और हमें दूसरों की स्त्रियाँ सुन्दर लग रही हैं। प्रसन्नता हमारे घर की ईंट-ईंट से बरस रही है, और हमें दूसरों के मकान अच्छे लग रहे हैं। प्रसन्नता हमारे मा-बाप के द्वारा हमें दुलरा रही है और हम उन्हें कम अक्ल दकियानूस कहकर उपेक्षित कर रहे हैं। प्रसन्नता हमें अपने कर्म और धर्म में से आवाज लगा रही है और हम दूसरों के कर्म-धर्म से अपने को सजा रहे हैं।

प्रसन्नता हमारे हृदय की भावदशा है, स्थिति है – परिस्थिति नहीं है। लेकिन दुख इसी बात का है कि हमने उसको परिस्थितिजन्य समझ लिया है। परिस्थिति से वह हिल-डुल तो सकती है, पैदा भीतर से होती है। दुख-संताप, शोक-विषाद आदि परिस्थिति-जन्य या प्रवर्तित हो सकते हैं ; क्योंकि ये बाहर से आते हैं, भीतर से नहीं। प्रसन्नता हमारा स्वभाव है, जो भीतर से बहता है। प्रसन्नता भीतर से उद्भावित होती है, बाहर से नहीं आती। दुख-संताप आदि उसे थोड़ी देर के लिए आवृत कर सकते हैं, मिटा नहीं सकते। प्रसन्नता से न हम ऊबते हैं, न थकते हैं, न झींकते हैं, न कुढ़ते हैं और न इस पर हमें क्रोध आता है। यही इसके स्थायित्व की पहचान है और ये विशेषताएँ इसको दैवीभावों की श्रेणी में ले जाती हैं।

स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि सदा प्रसन्न रहना ईश्वर की सबसे बड़ी पूजा है। यदि इसमें इतना और बढ़ा दें कि हार्दिक प्रसन्नता ही ईश्वर है तो उनकी बात का अतिक्रमण नहीं होगा। ईश्वर के निवास को बैकुंठ कहते हैं और बैकुंठ कोई स्थान नहीं है, अपितु हृदय की कुंठा रहित स्थिति का नाम ही बैकुंठ है। जिस हृदय में कोई कुंठा न हो, तनाव न हो, निराशा न हो, भय न हो, विषाद न हो – वहाँ क्या होगा? वहाँ आनन्द होगा, प्रसन्नता होगी अतएव ईश्वर होगा! भगवान् विष्णु का एक नाम 'विकुंठ' है।

कहने का तात्पर्य यह कि जिस हृदय में कुंठाएँ किसी तरह की गाँठें न लगाती हों ; अपेक्षाएँ जिसको खींचती न हों, उपेक्षाएँ जिसको दुत्कारती न हों ; आशंकाएँ जिसको कँपाती न हों ; सम्भावनाएँ जिसको गुदगुदाती न हों ; सुख-दुख जिसकी मस्ती में खलल न डालते हों ; खोना और पाना जिसको हिलाते-डुलाते न हों ; अतीत और भविष्य जिसको पीछे और आगे न खींचते हों ; परतन्त्रता, हताशा और वर्जना जिसको जकड़ती, बाँधती न हों – उस हृदय की आनन्दमय हिलोर प्रसन्नता है। यह हिलोर जब उठ गयी तो किनारे तक पहुँच कर ही रहती है। कोई तूफान, कोई झंझा, कोई वज्रपात, कोई बिजली, साहस नहीं करती उसका रास्ता रोकने का।'

प्रसन्नता स्थायी शान्ति है। अखण्ड आनन्द है। अभेद-दृष्टि है। अकुंठ मानसिकता है। निर्भीक क्रियाशीलता है। इसके पास आने से रोग कन्नी काटता है। बुढापा बगलें झाँकता है। शत्रुता प्रणाम करती है और कबीर ने जो कहा – 'कउआ कुबुधि निकट नहिं आबै।' यह हार्दिक प्रसन्नता जिन्दगी को ही नहीं मौत को भी उत्सव बना देती है। 'कब मरिहों कब भेंटि हों पूरन परमानन्द।' क्या प्रसन्न चित्त होगा वह! लाख-लाख जिन्दगियाँ कुर्बान ऐसी मौत पर। ऐसे मौत माँगनेवाले के पास आकर मौत का भी कलेजा काँप जाता होगा। दुख भी जिसके पास आकर, पीछे-छिपे सुख की ओर इशारा कर भाग जाता होगा कि "दुख की पिछली रजनी बीच, विकसता सुख का नवल प्रभात।" और अँधेरे भी गिड़गिड़ाकर उससे कह जाते होंगे कि –

'शब के सीने में फटी है पौ भी –
दुनिया में अँधेरे न जहाँगीर हुए।'

यदि प्रसन्नता की कल्पलता हाथ आ जाए तो रोग रफ़ा हो जाए, शोक, सफ़ा हो जाए, मौत दफ़ा हो जाए और जिन्दगी वफ़ा हो जाए। प्रसन्नता, आत्मा का उन्मन गुंजन, मन की अचंचल थिरकन और बुद्धि का निर्विकल्प चिन्तन होती है, जिसकी आशा के पीछे निराशा की छाया नहीं होती ; विश्वास के पीछे संदेह नहीं होता ; प्रेम के पीछे घृणा नहीं होती। सात्विक-सौम्य इसका रूप और शान्ति-अहिंसा इसका स्वरूप है। करुणा इसकी साँस और माधुर्य इसकी धड़कन है। इसकी दृष्टि जहाँ पड़ जाए, वहाँ कमल खिल उठते हैं। इसकी मुसकान जहाँ छिटक जाए, वहाँ मोती बिखर पड़ते हैं। यह चलती है तो धरती स्वर्ग बन जाती है। यह रुकती है तो जमाना ठहर जाता है :

'जो चाल मेरी बदली तो जमीं का रक्श बदला,
साँस ली ठहर कर तो रुक गया जमाना।'

प्रसन्नता नील गगन है और काले बादलों ने यदि कभी उसे ढक भी लिया तो इसका यह अर्थ नहीं कि आकाश मिट गया! वह है और सदा वही रहेगा। बादल तो आती-जाती परछाइयाँ है। प्रसन्नता धरती की उर्वरा शक्ति है और कहीं-कहीं ऊसर-बंजर आ गये तो इसका मतलब यह नहीं कि धरती अनुर्वर हो गयी। वह उर्वर है और उर्वर ही रहेगी। ऊसर बंजर तो उसके निरावृत नाक मुँह हैं, जिनसे वह अपने को जीवित रखने के लिए प्राणवायु और भोजन लेती है। यदि बादल न हों तो अम्बर की धूल कौन धोये? यदि ऊसर-बंजर न हों तो धरती को मलिनता किस राह निकले? पोषण कहाँ से मिले? यदि शोक-संताप न हों तो प्रसन्नता का रूप कैसे निखरे? हँसी को पाने के लिए रोना भी जरूरी है।

प्रसन्नता का जीता जागता रूप यदि देखना हो तो उसे बच्चों में देखा जा सकता

है। बच्चे इस कारण प्रसन्न होते हैं कि वे जी भर के रो लेते हैं लेकिन उनके आँसुओं में दुख नहीं बहता, कुंठा और तनाव निकल कर पानी-पानी हो जाते हैं। उनकी हिचकियों में संकट-ग्रस्त आहें और कराहें नहीं होतीं ; भीतर की मलिनता और विद्वेष उखड़-उखड़ कर बाहर भागने लगते हैं। उनकी मार-पीट में बैर-भाव नहीं होता, निर्बैर होकर साथ खेलने का सबक होता है। उनकी छीना-झपटी में लोभ नहीं होता, हानि-लाभ से ऊपर उठ जानेवाली निर्ग्रंथ मानसिकता होती है। उनके एकान्त में काम नहीं होता, वासना रहित प्रेम का चरम निदर्शन होता है।

हम इसीलिए हँस नहीं पाते, कि रो नहीं पाते। हमारा हँसना भी रोने की सूचना है। कितने ही ठहाके हम लगाएँ, भीतर रुदन जमा रहता है। हम ज्यों-ज्यों बड़े होते गये, त्यों-त्यों छोटे बनते गये। जितने-जितने पवित्र हम अपने आप को समझते गये, उतने ही मलिन होते गये; क्योंकि जिन्दगी को देखने का हमारा कोंण ही गलत है। हम अपने आप को किस स्थिति में ठहरा दें – सुख में या दुख में, हर्ष में या विषाद में, यह सब हमारे सोचने के ढँग या जीवन-शैली पर निर्भर है। हमारी कल्पना या भावना ही भावों की उद्‌भाविका और कुभावों की शामिका है।

जिन्दगी को देखने, समझने अथवा हमारे चिन्तन के दो कोंण हैं – एक धनात्मक या प्रकाश का कोंण है और दूसरा ऋणात्मक या अंधकार का कोंण है। हम किस कोंण से जिन्दगी को देखते हैं? यह कोई और नहीं बता सकता। इसके निर्णायक स्वयं हम ही हो सकते हैं। अपने आप में, अपने हिसाब से, अपने लिए तो संसार का कोई व्यक्ति गलत नहीं होता। जिसकी आत्मा से 'मुझसे बुरा न कोई' निकले, वो कोई करोड़ों में एकाध हो तो हो अन्यथा अधिकांश लोग, 'निज कवित्त केहि लाग न नींका' उक्ति के घेरे से बाहर नहीं निकल पाते और यह चिन्तन या कोंण न तो धनात्मक है और न निष्पक्ष निर्णायक। दूसरों के साथ रहकर, समाज के व्यवहारों में उतर कर, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में फँसकर हमारा जो रूप, भावों, विचारों, चेष्टाओं या क्रिया-प्रतिक्रियाओं के द्वारा व्यवहार में आचरित होता है, वही जीने का हमारा ढँग या शैली है। इसी पर हमारी प्रमुदिता और खिन्नता अवलम्बित है।

जो लोग हँसी-ठहाकों से या नाचकूद के शोर-गुल से अथवा बाजे-गाजों से अपनी प्रसन्नता दुनिया को दिखाते हैं, वह प्रमुदिता नहीं, खुशी होती है। खुशी वांछित वस्तुओं या पदार्थों की उपलब्धि के बाद अनुभव होनेवाला क्षणिक सुख है। यह स्थायी नहीं होता और रंग बदलते भी इसे देर नहीं लगती। उपलब्धि न होने पर तुरंत यह दुख या निराशा में बदल जाता है। हम में से अधिकांश लोग इस खुशी को ही असली प्रसन्नता या प्रमुदिता समझते हैं और इसी धरातल पर जीते हैं। असली प्रसन्नता या प्रमुदिता का पर्याय आनन्द है, जो हर स्थिति में एकरस रहता है, जिसके लिए खोना और पाना, मिलना और बिछुड़ना, सुख और दुख, जीवन और मृत्यु आदि केवल अर्थहीन शब्द होते हैं, लेकिन इनका भाव एक ही होता है आनन्द!

यह आनन्दमय प्रसन्नता बाहर से आती नहीं, भीतर से फूटती है। बाहर खिलखिलाती नहीं, भीतर गुनगुनाती है। बाहर इसका नृत्य दिखायी नहीं देता, भीतर लय और ताल टूटती रहती है। एक हिलोर है यह जो भीतर-भीतर तरंगित होती रहती है। बाहर पता लग भी सकता है और नहीं भी। शब्दों से इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। बुद्धि से इसे समझा नहीं जा सकता। यही इसकी परिभाषा है और यही पहचान। ठीक जैसे ईश्वर के लिए किसी ने

कहा कि –

'दिल में आता है पर समझ में नहीं आता,
मैं समझ गया कि तेरी पहचान यही है।'

एक अनुभव के सिवाय सारा वाग् यंत्र और बुद्धि तंत्र असफल है इसकी भाषिक अभिव्यक्ति के लिए। प्रमोद, अकथनीय है। आनन्द, अवर्णनीय है।



१५. अहंकार/अभिमान

जब मैं तटस्थ रहकर आत्मानुसंधान के क्षणों में होता हूँ तो अक्सर पाता हूँ कि जो मैं बाहर दिखा रहा हूँ, वह भीतर नहीं हूँ। एक होते हुए भी, मैं एक नहीं हूँ। दो हूँ और न जाने कितने लोग हूँ अकेला मैं–कितने रंग, कितने रूप हैं मेरे कि मैं तो हैरान हूँ!! साफ दीख रहा है कि यह व्यक्तित्व दोहरा है, दोमुहाँ है। बाहर अपने आप को नाचीज़ कहता हूँ, भीतर से अपने को बड़ी कीमती चीज़ समझता हूँ; बाहर क्षुद्र कहता हूँ, भीतर विराट् समझता हूँ। क्या कपट की चादर ओढ़े हुए अहंकार की यह आवाज है? आज भीतर के इस अहंकार और बाहर इसके बदले हुए रूपों 'अभिमान', 'घमण्ड', 'दम्भ', 'मद' आदि पर मेरी आँख गढ़ गयी है–'खुदा खैर करे'!

देखिए तो सही 'खुदी' की सबसे बुलन्द मीनार ही तो 'खुदा की ओर इशारा करती है और 'अहं' (अहंकार, 'मैं') का सर्वोच्च ज्ञानमय शिखर ही तो 'ब्रह्म' (अहं ब्रह्मास्मि) है। अहंकार, यानी व्यक्त व्यक्ति के भीतर अव्यक्त 'ब्रह्म' की आवाज। 'अहंकार', यानी अपनी सत्ता-महत्ता का बोध! अहंकार, अर्थात् ईश्वर के होने की उद्घोषणा! अहंकार, अर्थात्–आस्तिकता का सबसे विलक्षण लक्षण! अहंकार, अर्थात् अपनी निजता, अद्वितीय विशेषता का परिज्ञान! अहंकार, अपनी हैसियत–आत्मा की कीमत की पहचान! अहंकार यानी नास्तिकता के मुँह पर करारा थप्पड़, क्योंकि नास्तिक उसी को तो कहा जाता है, जो ईश्वर को नहीं मानता, अपने आप को ही सर्वशक्तिमान् मानता है। अनजाने में ही सही, सर्वशक्तिमान् मानने की यह गर्जना है किसकी? बाँसुरी में आवाज अपनी नहीं होती, फूँक कोई और मारता है, और बाँसुरी आवाज करती है। यदि बाँसुरी कूदने और चिल्लाने लगे कि देखो यह गीत मैंने स्वयं पैदा किया है, निकाला है, तुम सब मेरे ही गीत को गाओ, मेरे ही गीत को सर्वश्रेष्ठ कहो! तब यहाँ आकर समझो कि सिवाना बदल गया। ज्ञान और आत्मोत्थान की ओर उठाने वाला ब्रह्म सूचक आभ्यन्तरिक सूक्ष्म अहंकार, अब अज्ञान और पतन की ओर ढकेलनेवाला 'स्थूल अभिमान' बन गया। अतः ज्ञान को अपने सिर पर लेकर आँख खोलकर चलता हुआ 'अहं' अहंकार है और अज्ञान का ताज बाँधे आँख बन्दकर हुंकार करता हुआ 'अहं' अभिमान। अथवा अहंकार के पौधे पर जब कपट, दम्भ, पाखण्ड, छल आदि की सामूहिक कलम चढ़ जाती है तो उसका पूर्ण विकसित रूप 'अभिमान' होता है।

इस पौधे की वह शाखा, जिसपर उक्त कलम नहीं चढ़ायी जाती, अपितु अपनी जड़ों से स्वतः पोषण खींच प्राकृतिक रूप से विकसित होती चली जाती है, उस पर कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकर और कबीर जैसे फूल-फल लगते हैं और जिस पर कलम चढ़ायी जाती है, उसपर रावण, कंस, हिटलर जैसे। बीज तो दोनों शाखाओं का एक ही था–अहंकार, लेकिन फल–फूलों में फर्क किसने कर दिया? आकार-प्रकार, बनावट–उठन-बैठन सब तो एक जैसे ही थे, लेकिन एक को पूजा और दूसरों को धिक्कारा-नकारा क्यों गया? बस, एक शाखा की, अपने 'अहं', अपनी वास्तविक 'सत्ता' के प्रति, आँख खुल गयी और दूसरी की उस आँख पर, भौतिक सत्ता की पट्टी बँध गयी। 'अहं' के प्रति जागे हुए उन लोगों की आँख तो वही थी, लेकिन उससे अदृश्य दिखाई देने लगा; कान वही थे, लेकिन अनहद नाद सुनाई देने लगा; हाथ वही थे, लेकिन वे स्रष्टा बन गये; पाँव वही थे, लेकिन वे मन्दिर-मस्जिद और तीर्थ बन गये!! इन दोनों में और कोई बहुत अधिक फर्क नहीं था, उनको अपनी याद आ

गयी अथवा अपनी स्मृति जाग गयी कि हम कौन हैं और ये अपने आपको भूल गये। नर और नारायण में 'आत्म-विस्मृति' और 'आत्म-स्मृति' का ही फर्क है। 'आत्म-विस्मृति' अभिमान पैदा करती है और 'आत्म-स्मृति' 'अहं ब्रह्मास्मि' वाला अहंकार। इस अहंकार के समान कोई मित्र नहीं क्योंकि यह मनुष्य को सीधे भगवान् बना देता है और इस अभिमान के समान कोई–शत्रु नहीं, जो आदमी को बेहिचक हैवान बना देता है। अपनी ओर मुँह करके खड़ा हुआ 'अहं' अहंकार है और जगत् की ओर मुँह उठाये दौड़ता हुआ 'अहं' अभिमान। जहाँ भी यह 'अहंकार' शब्द अपकारक अर्थ में प्रयुक्त होगा, वहाँ यह अभिमान का पर्याय समझा जाना चाहिए।

अस्तु, अहंकार कोई बनावटी आभूषण नहीं है, जिसे कोई घमंडी आदमी अपनी तौफ़ीक़ जताने और दूसरों को नीचा दिखाने की गर्ज से, जब चाहे पहनले और उतार कर रख दे। अहंकार प्रकृति-प्रदत्त अन्तःकरण का एक हिस्सा है। जैसे, मनुष्य के बाहरी शरीर का गठन पाँच तत्त्वों से मिलकर हुआ है, वैसे ही उसके आन्तरिक शरीर का निर्माण–मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार इन चार तत्त्वों से हुआ है। अतः ये कृत्रिम नहीं, प्रकृति प्रदत्त हैं। इन्हें पहने हुए ही मनुष्य पैदा होता है। जब तक अबोधावस्था रहती है, तब तक ये ऐसे छिपे रहते हैं, जैसे छोटे पौधे में फल-फूल छिपे रहते हैं। बाद में जैसे-जैसे परिपक्वता विकसित होती है और जैसे-जैसे समाज की, संबंधों की, सभ्यता की, संस्कृति की, शिक्षा की और अपनी औक़ात की जानकारी की हवा लगती जाती है, ये तत्त्व पनपकर फलीभूत होते जाते हैं। अहंकार भी मनुष्य के लिए आवश्यक है, क्योंकि यही उसके पौरुष की पहचान का, उसकी अद्वितीय सत्ता और गरिमा-स्वाभिमान का परिचायक है। अहंकार न हो तो मनुष्य और पशुओं की वृत्तियों में भेद करना मुश्किल हो जाए।

आत्म-ज्ञान से भरा 'मैं' और मेरा 'अहंकार' है और आत्म-बोध से रहित अंधा 'मैं' और 'मेरा' 'अभिमान' है। कहना यह ठीक होगा कि 'अभिमान' अहंकार का 'धूँदरा' (घूम द्वार) है। प्रज्वलित अग्नि को जैसे उसी से निकला धुआँ ढक लेता है, वैसे ही विवेकी अहंकार अविवेकी अभिमान की धुमारी वायु तरंगों से आच्छादित हो जाता है। वे तरंगें होती हैं,– घमण्ड की, दम्भ की, दर्प की और मद की। मतलब यह कि जब वास्तविक सत्ता के बोध को दबाकर सांसारिक शक्ति और सामर्थ्य हावी हो जाती है और आदमी दूसरों को तुच्छ तथा अपने आप को महान् समझने लगता है, तो अहंकार, अभिमान बन जाता है।

और यह अभिमान! जिसे अपने दम्भ, दर्प, घमण्ड, मद, पाखण्ड जैसे ममेरे-फुफेरे भाइयों का पूरा समर्थन प्राप्त है, उसका पुर्जा-पुर्जा अकड़ा हुआ, छल, कपट, साजिश-षड्यन्त्रों से भरा हुआ है, वह आदमी के सिर पर चढ़कर बोलता है। जरा इसके हर पुर्जे (अक्षर) को देखा जाए :

'अ' अभिमान का पहला वर्ण है। 'अ' अर्थात् भाषा की वर्णमाला का पहला वर्ण। अहंकार और अभिमान दोनों शब्दों का पहला वर्ण यही है, लेकिन पूर्वोक्त 'अहंकार' में 'ओम्' (अ+3+म्) की पहली ध्वनि अर्थात् 'अ' महाविष्णु का प्रतीक– "अकारो विष्णुरुद्दिष्ट" बन जाता है, जो सब में हैं, सब उनमें हैं, लेकिन 'अभिमान' में पहुँचकर यही 'अ' निषेधवाचक अव्यय बन जाता है, जो सबका (दूसरों का) निषेध करता है, जो कभी व्यय नहीं होता, झुकता नहीं, पिघलता नहीं, दूसरे की सत्ता-महत्ता को स्वीकार करता नहीं। वही 'अ' जो स्वीकार को अस्वीकार कर देता है, समय को असमय बना देता है और वही 'अ' जो 'सु' को 'कु'

में बदल देता है। आप्टे ने इस 'अ' के कई और अर्थ गिनाये हैं, जो अपने पूरे बिम्ब और प्रतिबिम्ब के साथ मुझे 'अभिमान' में दिखाई देगये हैं। जैसे–

सादृश्य : 'अ' सादृश्य अर्थवाची है। सादृश्य के गर्भ में, तुलना, समता, होड, प्रतिस्पर्धा आदि कुलबुलाती रहती हैं। अभिमानी की आँख सदा तुलना की तराजू बनी रहती है कि कोई मुझसे आगे तो नहीं, मुझसे भारी तो नहीं और जहाँ कोई उससे आगे या भारी दिखाई दिया कि अपनी साजिश की 'डाँड़ी' मारकर अपने आपको भारी कर लेता है। भारी वह समझता है, होता नहीं, क्योंकि जो पलड़ा चारों खाने चित्त पड़ा है, धरती से अपनी पीठ रगड़ रहा है, वह भारी कैसे हो सकता है? भारी तो वह है, जो ऊपर है, जो तथाकथित भारी (नीचे) पलड़े को अपनी छाया से ही दाबे हुए है। जाहिर है वह भारी है। जो तुलना करे, निश्चित वह तुलनीय से हेठा है। जो समता के लिए दौड़ रहा है निश्चित वह किसी से छोटा है। जो आगे जाना चाहता है निश्चित वह किसी से पीछे है। जो उपमा देता है निश्चित उसमें कुछ हीनता है, कोई अभाव है इसीलिए किसी के समान कहकर अपने मन को समझा लेता है। अतएव,–

अभाव 'अ'का दूसरा अर्थ है। 'अभाव' रीतेपन का, हल्केपन का, अज्ञान का सूचक है। अभाव, मानवीय मूल्यों की सम्पदा न होने का सूचक है। जिनके पास धन का अभाव नहीं होता, वे इतने अभावग्रस्त होते हैं कि धन के अलावा उनके पास और कुछ नहीं होता। उनके पास शान्ति का धन नहीं, प्रेम की जागीर नहीं, करुणा के हीरे नहीं, अहिंसा का कंचन नहीं, त्याग की जमीन नहीं। ऐसा अभिमानी थोथी आवाज में भिनभिनाते-भिनभिनाते किसी का भी अभिन्न बनकर नहीं रहपाता। सबसे भिन्न हो जाता है और **भिन्नता** अभिमानी के 'अ' का तीसरा अर्थ है। भिन्नता अर्थात् खंडित व्यक्तित्व, खंडित विचार, खंडित आत्मा, किसी से मेल न खाता हुआ खंडित व्यवहार! यद्यपि इस जगत् में चेतन और अचेतन हर प्राणी और पदार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं, लेकिन जो यह समझ लेता है कि यह भिन्नता उस अदृश्य विधाता की कारीगरी है, उसमें अभिमान नहीं हो सकता किन्तु जो अपने आप ही अपनी अकड़ दिखाता फिरे; सबसे अलग ही अपने आपको प्रतिष्ठित करे; अपने आप ही अपनी शेखी बघारे; अपने क्षुद्र कर्मों और घटिया चरित्र को महानता सूचक शब्दों का आवरण उढ़ाए, वह–भिन्न व्यक्तित्व वाला अभिमानी होता है।

अल्पता 'अ' का चौथा अर्थ है। अल्पता में लघुता, हीनता, न्यूनता आदि स्वत: समाविष्ट हैं। अहंकार (अभिमान) बड़ा दिखना चाहता है, लेकिन होता है, छोटा क्योंकि बड़ा तो बडा है ही, वह किसे दिखाए? दिखाता वही है, जो होता नहीं। अत: आदमी की लघुता और न्यूनता बनावटी बड़प्पन का दिखावा कर अभिमान को पुष्ट करती है।

अप्राशस्त्य 'अ' का पाँचवाँ अर्थ है। अप्राशस्त्य अर्थात् बुराई, अयोग्यता, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा। इन सबका मूल मंत्र बुराई है। मतलब यह कि अभिमानी की आँख को अपने अलावा किसी में कोई अच्छाई नजर नहीं आती। उसे बुरे लोगों की बहुत अधिक खोज बीन नहीं करनी पड़ती। उसे अपने घर में रहते हुए अपनों में ही बुराई दिखाई देने लगती है। ईर्ष्या बुराई की आधारशिला है और अभिमान सक्रिय ईर्ष्या है। ईर्ष्या अपने से अयोग्य की तो प्रशंसा करती है, लेकिन अपने आप से योग्य की निन्दा करती है। अत: अभिमानी अपनों में ही बुराई देख लेता है। जैसे, वह बाप है तो बेटे उससे अधिक समझदार कैसे हो सकते हैं? यदि वह पति है तो पत्नी उससे अधिक गुणवती होही नहीं सकती! यदि वह बड़ा भाई

है तो राजाराम की तरह सारी अच्छाइयों का ठेका लिए बैठा है। इसके अतिरिक्त यदि वह छोटा है तो बड़े क्या जानें ? वे अनपढ़ हैं, जाहिल हैं, गँवार हैं, पुराने सड़े विचारों के हैं, दकियानूसी हैं, आउट ऑफ डेट हैं !! मतलब यह कि अभिमानी की ढ़पली जोभी ढ़पढ़पाए, वही राग उत्तम है।

घर से बाहर निकलकर भी अभिमानी को बुरे की खोज में अधिक नहीं भटकना पड़ता। जो भी पहला व्यक्ति उसे नमस्कार न करे, वही बदतमीज और घमंडी दिखाई देता है। अपने से धनवान् उसके लिए बेईमान होता है; अपने से ताकतवर लोफर लफंगा होता है; अपने से सुन्दर व्यभिचारी होता है; नेता में भ्रष्टाचार दिखाई देता है; संत महात्माओं में पाखंड नजर आता है; भिखारी में कामचोरी, अफसर में हरामखोरी और क्लर्क में घूसखोरी दिखाई देती है। अन्त में जब कोई अच्छा दिखाई नहीं पड़ता तो बिस्तर पर पड़कर आत्म चिन्तन करते हुए कबीर का यह उलटा दोहा उसके दिल को चैन और सुकून देकर मीठी नींद सुला देता है कि,

''भला जो देखन मैं चला भला न दीखा कोइ।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा भला न कोइ।।

विरोध 'अ' का छठा अर्थ है। अपने प्रशंसकों और अनुचरों को छोड़कर अन्य सबका विरोध करना अभिमानी की लत है। यह महत्त्वाकांक्षा विरोध की प्रेरक शक्ति है। अपने आपको स्वीकार करना और दूसरों को अस्वीकार करना विरोध की प्रवृत्ति है। अनीति, अन्याय और अनाचार विरोध की रणनीति है। अत: आत्महीनता, महत्त्वाकांक्षा को, एवं महत्त्वाकांक्षा विरोध को उकसाती है और विरोध के गर्भ में क्रोध, ईर्ष्या, घृणा आदि तत्त्व छिपे रहते हैं। क्रोध अभिमान का चैंप है। ईर्ष्या अभिमान की मिचली है। घृणा अभिमान की खकार है और परायी तरक्की अभिमान की छींक है। विरोध यदि मुखर और प्रकट न हो तो वह अपनी साजिश और षड्यन्त्रों की बन्दूक को दूसरों के कंधों पर रखकर चलाता है। विरोध छिपा हुआ प्रतिशोध है। विरोध अंधी सत्ता की बमकती बलबलाहट है। विरोध अभिमान का शंख है।

'अ' में निर्दयता, क्रूरता, निन्दा, भर्त्सना, धिकृति, छि: आदि भी हैं। इनके बिना अभिमान का सच्चा चित्र नहीं बन पाता। जरा अपने भीतर अभिमान को पूरा खड़ा कीजिए और आप देखेंगे कि दया निचुड़ गयी, माधुर्य छट गया, विनम्रता ठिठुर कर अकड़ गयी, निन्दा की साँस निकली और दूसरों की भर्त्सना की आवाज बन गयी।

अब आया 'अभिमान' का दूसरा पुर्जा 'भि'। इस 'भि' का क्या अर्थ निकालें? भिभियाना अच्छा नहीं लगता। इसलिए 'भ' के आगे फिर उसी बहु व्यायामी 'अ' को जोड़कर 'अभि' बना लेते हैं। 'अभि' के अर्थ हैं। पहले तो यह 'उपसर्ग' है। उपसर्ग वह, जो अपने आप में व्यर्थ होते हुए भी किसी भी शब्द के आगे, उसके सिर पर चढ़कर बैठ जाए और सारे रँग-ढँग ही बदल डाले। 'मान' के साथ यह अपनी विचित्र कलाकारी दिखाता है, कभी दोस्ती, कभी दुश्मनी! जैसे **'स्वाभिमान'** में यह 'मान' का दोस्त बन गया है तो इसका अर्थ शुक्ल पक्षीय हो गया है। अर्थात् स्वाभिमान = आत्माभिमान। आत्माभिमान यानी आत्मा का सम्मान! आत्मा का सम्मान यानी अपने भीतर छिपे परमात्मा का सम्मान और जो आत्मा परमात्मा का सम्मान करेगा, वह उसी तरह हर जीव जन्तु का सम्मान करेगा। जिसमें स्वाभिमान नहीं, वह कायर, क्लीव नपुंसक, डरपोक कहा जाता है। 'स्वाभिमान' आत्मा का सम्मान है तो 'अभिमान' देह का, रूप का, गुण का, शक्ति का, पद का, धन का, ज्ञान का घमंड है।

व्यक्ति के स्वाभिमान अर्थात् उसके गुणों की क्षमता और प्रतिभा की उपेक्षा या निरन्तर बेकदरी की जाती रहे तो इनकी प्रतिक्रियात्मक परिणति यातो निराशात्मक आत्म हनन में होती है अन्यथा वह दमित स्वाभिमान उदग्र अहंकार बन जाता है। अर्थात् उपेक्षित स्वाभिमान में आक्रोश, मन्यु, अमर्ष, कुढ़न और चिढ़न उसे अभिमान जैसा बना देते हैं, लेकिन वह आत्मघाती अभिमान नहीं होता। चोट खाया स्वाभिमान अभिमान जैसा लगा करता है। घायल अस्मिता अहंता जैसी आभासित होती है। पर होती नहीं।

लेकिन वहीं **'अभिमान'** में इस 'अभि' ने 'मान' के साथ भितरघात किया है। उसी की आस्तीन का साँप हो गया है। उसी के सिर पर बैठकर उसी पर हथौड़ा चलाया है। 'अभिमान' का तो तमाशा आप देख ही रहे हैं।

'अभि' का कोशगत अर्थ कामी, लम्पट, विलासी भी है। इतिहास-पुराणों में पंजीकृत किसी भी अभिमानी की चरित्रपंजिका को उठाकर देख लीजिए, उपर्युक्त महान् गुण उसमें सबसे पहले मिलेंगे। **'काम'** तो सबमें होता है, और होना चाहिए, लेकिन जो केवल शुद्ध कामी हो गया, तो शील (धर्म) उससे पीठ फेर लेता है और फिर अधर्म, अत्याचार, बलात्कार करने में "कामातुराणां न भयं न लज्जा।" दूसरा गुण है **'लम्पटता'**। चुहलबाजी, हँसीमजाक, मनोविनोद तो जीवन की कड़वाहटों को कम करने के लिए आवश्यक है, लेकिन जब ये ही अपने साफ सुथरे चेहरों पर भोंड़े नकाब लगाकर सामाजिक मर्यादाओं, शिष्टाचारों की सीमा लाँघ जाते हैं तो फिर गुंडई, लुच्चई, लोफरई-लफंगई बन जाते हैं, जो शुद्ध भाषा में आदमी को 'लम्पट' कहलवाते हैं। अभिमानी को समाज का, धर्म का, न्याय-नीति का कोई भय होता नहीं, इसलिए वह कुकर्मों में बेहिचक उतर जाता है। अतएव लम्पट होता है। **'विलास'** का अर्थ, लालित्य, चारुत्व, सौन्दर्य, आकर्षण और मनोरंजन आदि भी है, लेकिन अभिमानी में पहुँचकर ये सारी बातें कामुकताभरी विलासिता बन जाती हैं और विलासिता–विषयों का ध्यान है; नशे की तलब है; व्यसनों का मकड़ जाल है; आत्मा का दमन है; मन की उठान है, इच्छाओं का विस्तार है; इन्द्रियों (कामेन्द्रियों) का पोषाहार है।

अब बचा अभिमान का अन्तिम टुकड़ा 'मान'! 'मान' का बीज 'मन्' है और 'मन्' का अर्थ 'घमण्डी' है। अपने पंजे में सबको जकड़ने की उड़ान मन ही तो भरता है और सबको अपने शिकंजे में कसने का काम घमंड की चूड़ियाँ करती हैं। घमंड को मैं अभिमान का जुड़वाँ भाई मानता हूँ। बस थोड़ा सा अन्तर हो सकता है इन दोनों में कि देखने में 'अभिमान' थोड़ा लचीला, थोड़ा सुन्दर दिखाई पड़ता है, बाहर से, जबकि 'घमंड' शब्द को सुनते ही कानों में खौफनाक तरंगें और आँखों में बज्रलंठ, धूर्त, क्रूर, नृशंस और संवेदनहीन आकार का चित्र उतर आता है। घमंड शब्द हाथ में एटमबम पकड़े हिटलर का बिम्ब प्रस्तुत करता है।

आगे इस 'अभिमान' को 'अहंकार' का ही नाम देकर इसकी प्रवृत्तियों का निरीक्षण होगा क्योंकि समाज और लोक के व्यवहार में 'अहंकार' ही अधिक व्यवहृत और प्रचलित है, जो अभिमान का पर्याय है। पूर्वोक्त अहंकार (अहं ब्रह्मास्मि) तो अपवाद है। जबतक आदमी 'मैं कौन हूँ' को न जान जाए, तब तक उसका 'अहंकार' अभिमान, घमंड, मद, दर्प, गर्व आदि कुछ भी हो सकता है। लेकिन **'वह'** अहंकार नहीं।

इतना तो दिखाई दे गया है कि जोभी भाव, गुण-अवगुण, तत्त्व, मूल्य, प्रकृति या ईश्वर निर्मित हैं, वे सब मनुष्य के पतन के लिए ही नहीं, उसके उत्थान के लिए भी हैं। उत्थान

और पतन केवल उपयोग पर निर्भर हैं। सदुपयोग किया जाए तो उत्थान होता है और दुरुपयोग किया जाए तो पतन। अस्तु, मनुष्य के जो आन्तरिक शत्रु बताये गये हैं, वे स्वनिर्मित नहीं–प्रकृति प्रदत्त हैं। जिनकी एक अँगुली उस परमेश्वर की ओर इशारा करती है तो तीन उँगलियाँ अपनी ओर मुड़कर बताती हैं कि वह एक तुम्हारे भीतर भी है। देखना है तो देख लो, तुम्हारे हर भाव-कुभाव में उसी का कोई न कोई रूप है। और देखा, तो पाया कि मनुष्य का पहला जो शत्रु बताया गया है, **'काम'** उसका होना मनुष्य में ईश्वर के सृष्टिकर्ता रूप का अंश है। काम न हो तो संसार में उत्पत्ति, गति, प्रगति, सौन्दर्य, उल्लास आदि सब मर जाएँ। काम मंगल से मंडित होकर धर्म की बाँह थामे चले तो राम तक लेकर पहुँच जाता है। **'क्रोध'** मनुष्य में ईश्वर के सर्वशक्तिमान् और संहर्ता रूप का संकेत है। अधर्म के विनाश और धर्म की संस्थापना के लिए, आतंक के दमन के लिए, शक्ति के निकास और विकास के लिए क्रोध आवश्यक है। **लोभ-मोह** ईश्वरीय वत्सल भाव, करुणा, दया, क्षमा आदि के सूचक है। ये जगत् की ओर मुड़ जाएँ तो गिरा देते हैं और सत् की ओर मुड़ जाएँ तो उठा देते हैं। **ईर्ष्या, द्वेष** आदि मनुष्य को सबसे ऊपर ले जानेवाले सोपान हैं, यदि अलौकिक लोकों की ओर इनकी गति प्रारम्भ हो जाए !!

मतलब यह कि 'काम' में यदि ज्ञान की आँख खुल जाए तो दिव्य प्रेम बन जाए; 'क्रोध' में वह आँख खुल जाए तो वह रक्षा करने वाली अप्रतिहत शक्ति बन जाए; 'लोभ-मोह' की दृष्टि ऊर्ध्वमुखी हो जाए तो वह भक्ति बन जाए और ईर्ष्या-द्वेष का रूपान्तरण हो जाए तो वह अहिंसा बन जाए। अत: उपकारक अपकारक तो यहाँ हर चीज है, लेकिन दिशा विधायक और आत्मा जागी हुई हो तो अपकारक भी उपकारक बन जाता है।

दूसरे, अन्त:करण की जो चार वृत्तियाँ हैं– मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार, इन्हीं से मनुष्य का दृष्टिगत और अनुभवगत जो भी है, सब निकलता है। **'मन'** से समाज, संसार, सम्बन्ध और मनोभाव पैदा होते हैं। **'चित्त'** से प्रेम, भक्ति, करुणा, अहिंसा और सारी प्रवृत्तियाँ निकलती हैं। **'बुद्धि'** से ज्ञान, विज्ञान, नीति, दर्शन और वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और **'अहंकार'** से ऊर्जा, स्वाभिमान, मान-अपमान, अभिमान, घमंड, दर्प, गर्व, दम्भ, पाखंड आदि पैदा होते हैं।

इन सब का बीज तो एक ही है, 'अहंकार' लेकिन जमीनें अलग-अलग हैं। भूमि का प्रभाव गुण-धर्मों को अलग कर देता है। स्वाभिमान की आधार भूमि आत्मा है। 'मान-अपमान' की आधार भूमि मन है। अभिमान और घमंड की आधार भूमि भौतिक शक्ति सामर्थ्य है। दर्प, गर्व आदि शरीर और रूप गुणों की क्यारियों में पैदा होते हैं। दम्भ-पाखंड आदि थोथी शक्ति, थोथे ज्ञान, झूठी तारीफ, बगुला भक्ति और पूजा-पाठ आदि के ढोंग के पठारी भाग में उपजते हैं। नकली चीज का असली रूप में दिखने वाला अकड़ा हुआ ढँग **'ढोंग'** है। ढोंग जब क्रियाशील हो जाता है, तो **पाखंड** बन जाता है।

मनुष्य का अव्यक्त 'अहंकार' (वास्तविक सत्ता का बोध) मुखर होकर जब अपनी शक्ति और सामर्थ्य का बाहर ढोल पीटने लगता है तो वह **'अभिमान या घमंड'** बन जाता है। घमंडी आदमी अपनी शक्ति-सामर्थ्य के सामने दूसरों की हैसियत और औकात को केवल नगण्य ही नहीं समझता, अपितु उसे पूरी तरह से मिटा देना भी चाहता है और यह भूल जाता है कि जैसा मैं हूँ, वैसा ही दूसरा भी है। इस काम के लिए वह 'कपट' और 'पाखंड' इन दो हथियारों का इस्तेमाल करता है। **'कपट'** अर्थात् भीतर कुछ और, बाहर कुछ और। झूठे साक्ष्यों से अपना काम कराने की चालाक तरकीब। और **'पाखंड'** अर्थात् जिसकी पाकीजगी

अथवा पवित्रता तो खंडित हो गयी हो, लेकिन कहता अपने आपको परमपवित्र हो। भीतर कामी, क्रोधी, लालची हो और बाहर से बगुला भगत! भगवान् पाखंड का हथियार है। भगवान् का नाम लेकर वह दुनिया को लूटता है, ठगता है।

घमंड में जब कपट और पाखंड का योग हो जाता है तो 'दम्भ' बन जाता है। **'दम्भ'** ऐसा अधभरा कुम्भ है, जिसको इतना तो पता नहीं कि मुझमें कितना पानी है या मैं कितने पानी में हूँ? बस जरा सी हिलन-डुलन से उसकी ऐसी छलछलाहट शुरू होती है कि उसके अपने तो लत्ते-कपड़े भीगते ही हैं, दूसरे लोग भी बिदक कर किनारे हो जाते हैं। फिर इस 'दम्भ' का कुंभ अन्त में उसी की खोपड़ी पर फूट जाता है। 'दम्भ' यदि थोड़े दिन जीवित रह जाए और अपनी कुटिल नीतियों से अर्थात् चुगली, चाटुकारी, मालिश, तिकड़म, राजनीति आदि से जरा अपनी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक हालत को सुधार ले, तो फिर वह **'मद'** की हद में प्रवेश करता है। 'मद' अर्थात् नशा—धन का, पद का, शक्ति का, रूप का, ज्ञान का सब का बेहोश नशा!! 'मद' सीमातीत घमंड ही है। **'मद'** की आँख अपने सामने दूसरों के मस्तक झुके देखने के लिए है। **'मद'** के कान अपनी ही प्रशंसा सुनने के लिए हैं। **'मद'** के हाथ सबको अपने में समेट लेने के लिए हैं। **'मद'** के पैर सबको अपने चिह्नों पर चलाते रहने के लिए हैं।

इन सबके जीवाणुओं को लेकर बनता है आदमी का **'अहंकार'** (पूर्वोक्त अभिमान) वह अहंकार, जो अपने को अग्रगण्य और दूसरों को नगण्य करने के लिए 'बघियाता' रहता है। वह अहंकार, जो अपने आपको उठाने के लिए और दूसरों को गिराने के लिए 'तुकतुकाता' रहता है। वह अहंकार जो अपने को पीछे और दूसरों को आगे बढ़ते देख 'मिसमिसाता' रहता है। वह अहंकार जो बाहर से तो किसी की प्रशंसा करता है; लेकिन भीतर से उखाड़ता रहता है। वह अहंकार, जो बाहर से तो बड़ा विनम्र, बड़ा लिजलिजा; लेकिन भीतर से पपड़ाया और पथराया होता है।

इस अहंकार के इतने सूक्ष्म भेदोपभेद और निकास द्वार हैं कि जिनकी गणना करना आसान नहीं है। जैसे सुख का अहंकार है तो दुःख का भी अहंकार है; अमीरी का अहंकार है तो गरीबी का भी अहंकार है; पांडित्य का अहंकार है तो अज्ञान का भी अहंकार है। दोनों ही दशाओं में अहंकार मन के तोष की कला है और यह कला तब तक सार्थक नहीं होती, जब तक कि वह दूसरों को अपने आप से हीन सिद्ध न कर सके। जैसे, सुखी, सम्पन्न व्यक्ति तब तक अपने आप को सुखी-सम्पन्न नहीं मानता, जब तक कि उसके समान धरातल के लोग उससे अच्छी हालत में हों। अहंकार को सिर उठाने का मौका तभी मिलता है, जबकि उसके दायरे के लोग तंग हालत में हों। अहंकार अपने से हीन को देखकर आसमान देखता है और अपने से ऊँचे को देखकर धरती कुरेदता है।

सुखी आदमी अपने सुख और साधन सम्पन्नता को देख मन में ऊलता-फूलता रहता है और अपने आप को विगत जन्मों का पुण्यात्मा, धर्मात्मा और इस जन्म का नेक, बुद्धिमान् और दूरदर्शी बताकर दीन-हीनों को हेय दृष्टि से देखता है। उसके हिसाब से दीन-दुःखी लोग अपने कर्मों की सजा भोग रहे हैं। वे पापी हैं, अधर्मी हैं, कुकर्मी हैं। विरासत में उन्हें दरिद्रता मिली है। फिर अहंकार का जुमला बाहर निकलता है कि, 'जैसे कर्म करै मन मेरे। ऐसे ही बेल बँधेंगे तेरे!!' अहंकार 'अन्योक्ति' में बोलता है।

दुःखी व्यक्ति का अहंकार और भी भितरमार करता है। वह तलवार की मूँठ से ही

सुखियों की धार मोथरी करता है। वह इतनी रसात्मकता से अपने दुःखों, अभावों, कष्टों, चोटों की कहानी सुनाकर अपने आप को हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, शिवि, राम, कृष्ण की श्रेणी में लेजाकर खड़ा कर देता है कि एक बारगी सुखी आदमी भी सिर पीटने लगे कि हमारा तो जन्म अकारथ है। जिस जीवन में परीक्षाएँ नहीं आयीं, दुःख, चोट, और अभाव नहीं आये, वह जीवन श्रेष्ठ मानव का नहीं, क्रूर दानव का है। दुःखी व्यक्ति अपने दुःख-दारिद्र्य से यही व्यंजित करता है कि अरे सुखियो! देखो हम कितने, धीर-वीर-गम्भीर और भगवान् के कृपापात्र हैं कि हम पर मुसीबतों के इतने पहाड़ टूटे, लेकिन हम नहीं टूटे; इतने तूफान आये, लेकिन हम नहीं झुके; सब कुछ लुट गया, मिट गया, लेकिन किसी के सामने रोये नहीं, गिड़गिड़ाये नहीं, हाथ नहीं फैलाया "गोया हम भी किसी बीन के तार हैं, चोट खाते रहे, गुनगुनाते रहे।" अतः सुख, अहंकार का लाउडस्पीकर है तो दुःख, उसके टेप की रील है। सुख का अहंकार हो या दुःख का, दोनों की अवस्थाओं में वह जीत की कामना पर ही खड़ा होता है और दोनों अवस्थाओं में बाजी अपने हाथ ही रखता है कि 'चित भी मेरी और पट भी मेरी।'

अकड़नेवाले का अहंकार है तो विनयशील का भी अहंकार है। अकड़ू का अहंकार तो खुली मुंडेर से टिटियांता है, अपने ही मुख से अपने सुकर्मों के भटियार-गीत गाता है, अपने धन, पद, शक्ति, सामर्थ्य के नगाड़े अपने ही हाथों से बजाता है; लेकिन विनय के आवरण में लिपट। अहंकार छिपा रुस्तम होता है। वह बादलों के गर्जन-तर्जन के साथ तड़ातड़ नहीं बरसता, अपितु ओस के समान अपनी धुमैली भाप से ही सबकुछ मसमसा कर देता है। वह रूखे, खुरदरे शब्दों में हुंकार नहीं करता, अपितु बड़े चिकने, सुन्दर शब्दों का खोल ओढ़कर दूसरों को धोखा देता है। यह सीधे सामने नहीं आता अपितु नीति-धर्म, पूजा-पाठ, शास्त्र-सिद्धान्तों आदि की आड़ में छिपकर आता है और अपने आपको कहता है कि 'मैं तो नाचीज हूँ', 'अल्पज्ञ हूँ', 'क्षुद्र हूँ', आपके 'चरणों की धूल हूँ।' यह छद्म अहंकार है, जो विनम्रता का माइक लगाकर बोल रहा है। कैसे पहचान हो असली-नकली विनम्रता की? एक युक्ति है कि जो अपने आपको अल्पज्ञ, नाचीज और आपके चरणों की धूल कहता हो, जरा गंभीर होकर और उसके चेहरे पर आँख गढ़ाकर, उसी की बात का समर्थन कर दीजिए कि हाँ आप बिल्कुल सत्य कर रहे हैं, हम भी आपको अल्पज्ञ, नाचीज और धूल के बराबर ही समझते हैं। तब फिर उसके मन-मानस की उठापटक देखिए। बाहर से जो आपके चरणों में झुकने की बात करता था, उसके इरादे आपकी गर्दन पकड़ने के हो रहे होंगे। ऐसी क्षुद्रता प्रकारान्तर से अपने आपको महान् कहलवाने की प्रतिकार भावना है। ऐसी विनम्रता अहंकार के विष कुम्भ का पयोमुख है। ऐसी अल्पज्ञता अपने आपको ज्ञानी कहाने की मीठी सिफारिश है, अपेक्षा है। विनम्र लोगों की यहाँ कमी नहीं है, फिर भी विनम्र खोजना मुश्किल है। क्योंकि–

यह विनम्रता और अहंकार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। झुका हुआ अहंकार विनम्रता बन जाता है और तनी हुई विनम्रता अहंकार कही जाती है। विनम्रता अहंकार की पोषिका और तोषिका भी है। सामने विनम्रता न हो, तो अहंकार को खड़ा होने की जगह न मिले। विनम्रता यदि गुण है तो दुर्गुण भी सबसे बड़ा है–क्योंकि यह अहंकार को पोषण देती है। दुष्टता, धोखे और छल-कपट का मुखौटा है विनम्रता। आज के युग में विनम्रता (भोलापन) आदमी की बेकदरी और उपेक्षा कराती है; उसे ठगवाती है; लुटवाती है; उसे फुसलाकर अपराधी भी बनवा दिया जाता है। मूर्ख और बेवकूफ सी विनम्र आदमी को दुनिया कहती

ही है। कभी-कभी हम कुछ बातों के उल्टे अर्थों को सीधे मान लेते हैं। जैसे कोई हमारे सामने झुकता है तो हम उसे विनम्र कहते हैं। क्या यह विनम्रता सद्‌गुण-विधायिका है? दूसरी ओर कोई हमसे ये कहे कि मेरे सामने झुको और मेरे चरण स्पर्श करो, तो हम उसे अहंकारी कहते हैं। क्या यह अहंकार दुर्गुणों का जनक है? नहीं, वह बनावटी विनम्रता अहंकार की जननी है। सीधे अहंकार को अकड़ने का मौका दे रही है, और यह अहंकार दूसरे को झुकाकर उसके भीतर दबे अहंकार के बीज को ही नष्ट करने की कोशिश कर रहा है। जो विनम्रता, विनम्रता को ही जन्म दे, वही विनम्रता है। जो विनम्रता अहंकार को उठाए-उकसने का मौका दे, उसे विनम्रता तो नहीं कहा जा सकता। उसी तरह जो अहंकार, अहंकार को जन्माए, वही अहंकार है और जो अहंकार,किसी अहंकार को तोड़ने का काम करे, वह अहंकार कैसे हो सकता है?

और भी अच्छे-अच्छे नामों के पीछे छिपकर अहंकार दूसरों को सताता है। प्रेम के नाम पर गुलाम बनाता है; मित्रता के नाम पर स्वार्थ-सिद्धि करता है; सेवा के नाम पर शोषण करता है; त्याग के नाम पर संग्रह करता है; देश भक्ति और समाज सुधार के बहाने अपनी तिजोरी भरता है; सहयोग के नाम पर पिछलग्गू बनाता है।

कितना ही लतियाया, जुतियाया जाए–अहंकार, झुकता नहीं! दोनों ही ओर से नहीं झुकता। तो फिर झुकता कौन है? झुकता है ज्ञान कि अज्ञान बन जाता है; झुकता है समय कि असमय खा जाता है; झुकती है सफलता कि असफलता बन जाती है; झुकती है जिन्दगी कि मौत लील जाती है। कितना ही कोई समझाए लेकिन एक शायर की यह बात सच ही साबित होती है कि–

हजारों खिज्र पैदा कर चुकी है नस्ल आदम की
ये सब तस्लीम लेकिन आदमी अबतक भटकता है।

केवल भटकता ही नहीं, अहंकार संघर्ष करता है–और आगे........और आगे........सबसे आगे जाने का संघर्ष!! संघर्ष में तनाव है, उदासी है, विवाद है, असफलता की संभावना है, आशंका है, अस्तव्यस्तता है, अराजकता है। इन सबके मूल में है–तनाव! तनाव, अहंकार की धमनियों में दौड़ता हुआ तरल-तप्त रक्त है। किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति न होने पर अथवा किसी आघात, अपमान या शक से इनकी भरपाई करने के लिए दिल की दहक और दिमाग की रस्साकशी, तनाव है। जब भरपाई नहीं हो पाती तो असफलता की आशंका अहंकार को झुकाती ही नहीं, भीगी बिल्ली भी बना देती है, जो सबके सामने अकड़ता था, वह एकान्त में घिघियाता है, तलवे चाटता है।

कुछ भी हो अहंकार में बाहर दिखावा है, अन्तरमन में कोई गहरी चाहत है और चाहत भिक्षावृत्ति का मूल है। सदा उसकी दौड़ का यही लक्ष्य होता है कि मुझे यह भी मिल जाए, वह भी मिल जाए, मुझे सब लोग जान जाएँ, सब मुझे पूछें। इसके पीछे की मानसिकता साफ है कि जो अपने आप में कुछ नहीं होता, वही सबकुछ होने की दौड़ में पागल रहता है। लगता तो ऐसा है कि अहंकारी बहुत बड़ा है पर उसकी अन्दरूनी तहों को पलट कर देखा जाए तो उसके भीतर एक अभाव, कायरता, भय और दीनता-हीनता मिलती है। उसके भीतर माँग ही माँग होती है और अपने टिके रहने के लिए बैसाखियों की तलाश !! बैसाखियों पर टँगे हुए लोग आकाश में उड़ान भरने की कामना से ग्रसित होते हैं। नेतागीरी, पद, प्रतिष्ठा, धन के संसाधन, समर्थ अनुचर, गुलामी से भरे चाटुकार चमचे आदि अहंकार की

बैसाखियाँ हैं। अखबारों की कटिंग जोड़-जोड़कर अहंकार का स्वरूप खड़ा होता है। आत्म विज्ञप्ति और आत्म प्रशस्ति से इसका 'मेकअप' होता है। दूसरों की स्वीकृति की पक्की सड़क पर ही अहंकार की बैसाखी चल पाती है। दूसरों की अस्वीकृति की ऊबड़-खाबड़ मेंड़ों पर फिसलकर ये उसे औंधे मुँह गिरा देती हैं।

तर्क-बुद्धि, दावे, वादे, चुनौती, शिकायत, शेखी, शान आदि अहंकार के शब्दकोश के मूल शब्द हैं। इन शब्दों के खंड नहीं होते। इनके पर्याय तो हो सकते हैं, लेकिन विलोम नहीं। इनकी प्रशंसा तो करायी जा सकती है, लेकिन इनकी सम्यक् समीक्षा प्रतिबंधित है। अहंकार के लिए हाथ मत उठाइए,–गिर जाएगा! इससे पीठ फेर लीजिए–मर जाएगा !! इसकी बात का समर्थन मत कीजिए,–बुझ जाएगा !!! ताली मत बजाइए,– ढह जाएगा !!

अहंकार के न जाने कितने मुँह, कितनी जबानें हैं? 'हाँ' में भी अहंकार 'ना' में भी अहंकार। बोलने में भी अहंकार, चुप्पी में भी अहंकार। अपनी तरक्की, अपनी उपलब्धि का डंका पीटना भी अहंकार है और किसी को न बताना भी अहंकार है। बताना, इसलिए अहंकार है कि लोग उसका लोहा मानने लगें, उसे पूछने लगें। छिपाना इसलिए अहंकार है कि कहीं उसकी देखा-देखी अन्य लोग तरक्की न कर जाएँ, उसके बराबर या आगे न निकल जाएँ। अतः अहंकार सबसे बड़ी हिंसा है। दर्पोक्तियाँ किसी के भी मन में दहक पैदा कर सकती हैं। आत्मस्तुति किसी के भी मन में आत्महीनता भर सकती है। संकीर्णता की धार पर धरा हुआ 'मैं', 'तू' का गला काट देता है।

यह न तो दूसरे में कोई अच्छाई मानता है, न स्वीकार करता है और न समर्थन करता है। किसी की कितनी की महत्त्वपूर्ण बात हो, इसकी एक ही टिप्पणी, एक ही तकिया-कलाम होता है कि यह तो सबको मालूम है, फलाँ ने कहा, ढिकाने ने भी कहा–कोई नयी बात थोड़े ही है। दुनिया के झूठे-साँचे उदाहरण देकर किसी की वजनदार बात को फूँक से उड़ा देना अहंकार की फितरत है। ठीक कहा किसी ने "सबका पता है इनको अपनी खबर नहीं।"



१६. एकता

यह विश्व एक है। ब्रह्माण्ड एक है, और इसको बनानेवाला भी एक ही है। आपने कहीं देखा सुना है कि किसी देश के दो राजा (राष्ट्रपति) हों। यदि दो बनानेवाले होते तो वे एक जैसा ही सबको क्यों बनाते? अपनी-अपनी कारस्तानी वे भी दिखाते। ईश्वर ने हिन्दुओं का यदि नाक के नीचे मुँह बनाया तो अल्ला मियाँ अपने मुसलमानों का नाक के ऊपर मुँह बनाते–ताकि दूर से ही पता चल जाता कि यह ईश्वर की औलाद है और यह अल्लाह की। एक का खून लाल तो दूसरे का काला बनाना चाहिए था। एक का घर धरती पर तो दूसरे का आसमान में बनाना चाहिए था। क्यों यह टंटा सदा के लिए उन्होंने छोड़ा? क्या कोई बाप अपनी औलाद को लड़ते-झगड़ते देख सुखी रह सकता है?

दो तो हो ही नहीं सकते 'प्रेम गली अति साँकरी तामैं दो न समाइँ।' पर उस एक ने, आदमी की परीक्षा लेने के लिए ऐसा वहम पैदा किया कि एक के दो दिखने लगे। जिन्होंने वहम के पर्दे को हटा दिया, वे एक तक पहुँच गये और जो नहीं हटा पाये वे लड़ मरे, दो के पीछे। और आज भी दो की ही लड़ाई है। यद्यपि इस दुनिया में सबकुछ दो या दो से अधिक ही दिखायी देता है, पर अनेक तो एक का ही जोड़ है। यदि एक न हो तो अनेक बनेगा कैसे? दो के मिल जाने पर ही एक में ताकत आती है, सुन्दरता आती है, उपयोगिता आती है।

हमारे हाथ दो हैं, पर दोनों मिलकर एक ही काम करते हैं। कहीं ऐसा भी हुआ है क्या कि एक हाथ तो कुदाल चला रहा हो और दूसरा कलम से लिख रहा हो? एक हाथ को यदि काट भी दिया जाए तो क्या आदमी पूरा कहलाएगा? हमारे पैर दो हैं और दोनों से ही चलकर एक मंजिल पर पहुँचा जाता है। कहीं ऐसा भी हुआ है क्या कि एक पैर कावा गया हो और दूसरा काशी? एक पैर को यदि काट भी दिया जाए तो क्या आदमी पूरा आदमी होगा? हमारी दो आँख, दो कान, दो नाक के छेद–पर देखना सुनना और सूँघना भी दो हैं क्या? इनमें से एक भी न रहे तो आदमी काना, बूचा, नकटा नहीं हो जाएगा?

किसी नदी के बीच कोई पहाड़ी या टापू आ जाने से धाराएँ तो दो नहीं चार दिखायी दे सकती हैं,–पर नदी तो एक ही है, एक ही मुहाने से निकली और एक ही समुद्र में जाकर गुम हो जाएगी! फिर वह नदी भी नहीं रहेगी–नदी सागर हो जाएगी। हिन्दू-मुसलिम एक ही मानवता रूपी नदी है–एक ही मुहाने से निकली हुई और एक ही मौत के सागर में विलीन होनेवाली। कुछ तथाकथित टापुओं और टीलों ने इसको अलग-अलग धाराओं में बाँट दिया है। आज इन टापुओं को ध्वस्त करने की जरूरत है कि धाराएँ मिलकर एक हो जाएँ!

बाहर दो दिखाई देते हैं, पर भीतर सब कुछ एक है–हमारी चेतना एक, बुद्धि एक, मन, आत्मा, दिल, दुख, दर्द, करुणा, दया, सत्य, प्रेम, त्याग, भाईचारा आदि जो कुछ भी है–सबके भीतर एक जैसा है–एक है।

दो तार होते हैं–एक पोजीटिव एक नैगेटिव! जब दो मिलते हैं तो ही बिजली बनती है, जो उजाला करती है, हवा देती है, बाजा बजाती है। बल्ब अलग है, पंखा अलग है, हीटर, टी०वी० अलग-अलग हैं–पर बिजली भी अलग-अलग है क्या कि हिन्दू के घर में बिजली अलग और मुसलमान के घर में बिजली अलग? हिन्दू-मुस्लिम बस पंखों और बल्बों की तरह

अलग-अलग दिखायी देते हैं, पर एक ही बिजली से चल रहे हैं और दोनों की दोनों को सख्त जरूरत है। अँधरे में उजाला सबको चाहिए और गर्मी में हवा सबको चाहिए। कौन है वह जो बाँट कर अपना और मानवता का नाश करने पर तुला हुआ है?

जो नहीं दिखायी देता, उसे तो हम दो कहें या चार–चाहे ईश्वर कहें, अल्ला कहें, चाहे गुरु कहें या गॉड कहें–यह बात कोई बहुत समझदारी या प्रामाणिकता की नहीं है; पर जो दिखायी दे रहा है उसकी ओर से हम क्यों आँख मूँदे हुए हैं? क्या आज भी हम दूसरों की आँख से देखते रहेंगे? एक सूरज, एक हवा, एक पानी, एक धरती भी क्या हमारे लिए पक्षपात कर दो तरह के काम करते हैं? यदि सूरज बुझ जाए, हवा खो जाए, पानी सूख जाए और धरती फट जाए तो कल्पना कीजिए कि क्या होगा? और धीरे-धीरे ये रुख बदल भी रहे हैं। वह दिन दूर नहीं, जिस दिन यह मनुष्य इस प्रकृति का कोप भाजन बनेगा।

झगड़े-फसाद की जड़ तभी जमती है, जबकि आदमी जो नहीं है, वही होने का दावा करे। आदमी हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई नहीं–ये तो भाषा के बनाये हुए शब्द हैं–पर हम शब्द ही बन गये हैं–अर्थ खो गया है। हर चीज के नाम तो कई हो सकते हैं–पर क्या कई नाम होने से एक चीज दो हो जाती है? क्या सूरज, आफताब, सन। चंद्रमा, माहताब, मून। पिता, अब्बा, फादर। माता, मादर, मदर। धरती, जमीन, अर्थ आदि में हम हिन्दी शब्द को हिन्दू, फारसी शब्द को मुसलमान और अंग्रेजी शब्द को ईसाई कहें? नाम नहीं, अर्थ मुख्य है और एक है। एकता ही हमारी शक्ति है। एक होकर हम खड़े रहेंगे, देश को साधे रहेंगे बटकर हम बिखर जाएँगे–हम बिखरे तो वतन बिखर जाएगा।

●

ा कि हम इनसान हैं

ं अक्षरों को पूरी तरह मिला देने पर ही
कहते हैं तो बहुत दूर नहीं, जरा अपने
हैं; गधे भी सिर्फ गधे ही हैं; भेड़-बकरी,
हिन्दू न कोई मुसलमान, न कोई ऊँच
ारण है? दो टूक जवाब यह है कि यदि
ा हो गये होते तो वे कुत्तों, गधों को भी
होती है, उसी को तो बेवकूफ बनाया जा
अधिक बेवकूफ और कोई नहीं है—इतनी
ह आदमी या तो हिन्दू है या मुसलमान
लेवा साजिश के तहत, उन तथाकथित
र अपने इशारों पर नाचने को मजबूर
गधों ने दुलत्ती झाड़ दी। अरे आदमी!
ानी का, धर्म का, ढिंढोरा पीटता है।
नम' धर्म है? जिनके पीछे इनसानियत
हना चाहिए या अधर्म? यदि इनसे यही
र विचार करने की जरूरत है क्योंकि
कड़-पत्थरों के मंदिर-मस्जिदों के पीछे,
ध्वस्त किया जा रहा है—उनमें न तो
ब्रें हैं और उन कब्रों पर ही पूजा-इबादत

ा है कि क्या इस जगत् के बनानेवाले
अथवा इस आदमी ने ही सारा षड्यंत्र,
ालों का जवाब तो सबके पास है—पर
ीं। यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा था कि
कहा कि "आदमी जानकर भी जानता
ो खूबी है। सचमुच हम जानकर भी

के खोल का पर्दा फास तो बहुत पहले

यों नहिं आया।" और "जो तू तुंरक
इसका जवाब किसी के पास? हिन्दुओ

और मुसलमान लेकिन बात ऐसे नहीं
नाई नहीं रहेगा। अब पूरा ही बटवारा
ानें जब धरती, आकाश, पाताल को

अ ... ं की दोनों को सख्त
ज ... चाहिए। कौन है वह
जो

... र कहें, अल्ला कहें,
वा ... ता की नहीं है ; पर
जो ... आज भी हम दूसरों
की ... भी क्या हमारे लिए
पक्ष ... ाए, पानी सूख जाए
औ ... रे ये रुख बदल भी
रहे ... भाजन बने..।

... वही होने का दावा
क ... ये हुए शब्द हैं—पर
हम ... सकते हैं—पर क्या
क ... । चंद्रमा, माहताब,
मून ... े में हम हिन्दी शब्द
को ... ाम नहीं, अर्थ मुख्य
है ... देश को साधे रहेंगे
बट

१७. बस इतना समझ लो कि हम इनसान हैं

'ह' से हिन्दू 'म' से मुस्लिम और इन दोनों अक्षरों को पूरी तरह मिला देने पर ही बनता है 'हम'। 'हम' सब यदि अपने को इनसान कहते हैं तो बहुत दूर नहीं, जरा अपने आस-पास ही देखें कि यहाँ कुत्ते भी सिर्फ कुत्ते ही हैं; गधे भी सिर्फ गधे ही हैं; भेड़-बकरी, पेड़-पौधे सिर्फ भेड़-बकरी पेड-पौधे ही हैं–न कोई हिन्दू न कोई मुसलमान, न कोई ऊँच न कोई नीच, न कोई छूत न कोई अछूत! क्या कारण है? दो टूक जवाब यह है कि यदि इन कुत्तों-गधों में भी दो चार मुल्ला, पंडित या नेता हो गये होते तो वे कुत्तों, गधों को भी हिन्दू-मुसलमान बना लेते। क्योंकि जिसमें बेवकूफी होती है, उसी को तो बेवकूफ बनाया जा सकता है और देख लीजिए कि दुनिया में इस इनसान से अधिक बेवकूफ और कोई नहीं है–इतनी बड़ी दुनिया में सिर्फ आदमी ही, आदमी नहीं है–यह आदमी या तो हिन्दू है या मुसलमान या तो सिक्ख है या ईसाई। एक सोची-समझी जानलेवा साजिश के तहत, उन तथाकथित उल्लुओं ने, इस आदमी को काठ का उल्लू बनाकर अपने इशारों पर नाचने को मजबूर कर दिया! उनको कुत्तों ने ठेंगा दिखा दिया। उनको गधों ने दुलत्ती झाड़ दी। अरे आदमी! तू तो इनसे भी गया बीता है और तू अपनी बुद्धिमानी का, धर्म का, ढिंढोरा पीटता है। इनसान का धर्म 'इनसानियत' है, या 'हिन्दू', 'मुस्लिम' धर्म है? जिनके पीछे इनसानियत का खून हो, नफरत हो, अलगाव हो–उनको धर्म कहना चाहिए या अधर्म? यदि इनसे यही चीजें आती हों तो आज फिर से धर्म की परिभाषा पर विचार करने की जरूरत है क्योंकि "मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।" जिन कंकड़-पत्थरों के मंदिर-मस्जिदों के पीछे, 'खुदा-ईश' के हजारों जीते-जागते मंदिर मस्जिदों को ध्वस्त किया जा रहा है–उनमें न तो ईश्वर है और न अल्ला। बल्कि वहाँ धर्म की लाशों की कब्रें हैं और उन कब्रों पर ही पूजा-इबादत का हम ढ़ोंग कर रहे हैं।

हम सभी को इस प्रश्न पर गहराई से सोचना है कि क्या इस जगत् के बनानेवाले ने हमें बाँट कर हिन्दू-मुसलमान बनाकर भेजा है? अथवा इस आदमी ने ही सारा षड्यंत्र, सारा कुचक्र रचा है? बताने की जरूरत नहीं, इन सवालों का जवाब तो सबके पास है–पर बड़ी मुसीबत यह है कि जानकर भी कोई मानता नहीं। यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा था कि "इस आदमी की सबसे बड़ी खूबी क्या है?" युधिष्ठिर ने कहा कि "आदमी जानकर भी जानता नहीं और देखकर भी कुछ देखता नहीं।" यही उसकी खूबी है। सचमुच हम जानकर भी मूढ़ हैं, हम देखते हुए भी अंधे हैं।

वैसे इन 'हिन्दू' और 'मुसलमान' जैसे शब्दों के खोल का पर्दा फास तो बहुत पहले कबीर ही कर गये। उनके प्रश्न आज भी चुनौती हैं–

"जो तू बाह्मन बाह्मनी जाया। आन राह है क्यों नहिं आया।" और "जो तू तुरक तुरकिनी जाया। पेट हि खतना क्यों न कराया।।" है इसका जवाब किसी के पास? हिन्दुओ दो जवाब! मुसलमानो दो जवाब!!

अच्छा ठीक है, मत दो जवाब। बने रहो हिन्दू और मुसलमान लेकिन बात ऐसे नहीं बनेगी। सिर्फ आदमी ही अब हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई नहीं रहेगा। अब पूरा ही बटवारा हो, तो ही बात बने। तुम्हारी ताकत, कुव्वत तो तब जानें जब धरती, आकाश, पाताल को

भी हिन्दू, मुसलमान बनाओ, सूरज, चाँद, सितारों को भी हिन्दू-मुसलमान बनाओ। पशु-पक्षियों, पेड़-पाधों, नदी-पहाड़ों को भी बनाओ; अन्न-जल, हवा, आग-पानी सभी को अलग करो। इनमें किसको हिन्दू, किसको मुसलमान कहोगे? यदि न कह सको तो उतार फेंको इन थोथे खोलों को। धर्म की परिभाषा है 'जो धारण किया जाए, जिसके बिना रहा न जाए, जीया न जाए वही धर्म है।' आदमी चाहे आदमी के बिना रह जाए – पर ऊपर कही चीजों के बिना क्या रह सकता है? हमारे असली धर्म तो हवा, पानी, आग-अन्न ही हैं। धर्म और प्रेम जानना है तो इन्हीं से जाना जा सकता है। इन्हीं से हम दोनों बने हैं।

पता नहीं हम मंदिरों में कैसी पूजा करते हैं? पता नहीं हम मस्जिदों में कैसी नमाज पढते हैं? पता नहीं हम गुरुद्वारों में कैसा मत्था टेकते हैं? कभी गौर से इन इबादतखानों और पूजाघरों को देखा है? जरा देखिए कि मंदिर का भी ऊपर गोल नुकीला गुम्बद; मस्जिद की भी ऊपर गोल नुकीली मीनार; गुरुद्वारे और गिरजाघरों के भी ऊपर गोल नुकीले गुम्बद! यह गोलाई और उससे ऊपर आसमान की ओर इशारा करती हुई कील। इसका अर्थ समझने की कभी कोशिश की गयी? नीचे सब चौकोर हैं – ऊपर सब गोल और गोलाई ही एकता का प्रतीक है। वह ऊँगलीनुमा कील बताती है कि देखो ऊपर आकाश गोल है, और एक है। सूरज, चाँद गोल हैं, और एक-एक ही हैं। नीचे धरती गोल है, और एक है। हमारी आँख गोल, कान-नाक के छेद गोल, हमारा मुँह, आँत, भाव, विचार सब गोल और सब एक जैसे हम नीचे के छोटे-छोटे कोनों में खड़े कोने बाँट रहे हैं। ऊपर की एकता की गोलाई को छोड़ एक-दूसरे का बिस्तर गोल करने पर आमादा हैं। आज इस नारे को बुलंद करने की जरूरत है कि "न हिन्दू हैं हम ना मुसलमान हैं। बस इतना समझ लो कि इनसान हैं।"



१८. जब तेरी डोली निकाली जाएगी

कबीर ने देखा होगा, सूर और तुलसी ने देखा होगा श्वानों (कुत्तों) को काँच-मंदिर में, अपनी ही आकृति पर झपट-झपट कर अपने आप को लहू-लुहान करते हुए और फिर मरते हुए। हमने नहीं देखा। हमने तो इस काम को करते हुए घरेलू चिड़ियों को देखा है, दर्पण में दिखनेवाली अपनी ही शकल पर प्रहार कर लहू लुहान होते हुए। आज आदमी यही कर रहा है।

क्या हमें अपनी ही शकल नहीं सुहाती? क्या हम अपने ही आप अपने को नहीं मार रहे हैं – दूसरा समझकर? यहाँ हर आदमी दूसरे आदमी का आईना है, जिसमें अपनी ही शकल दिखाई देती है। यह संसार हमारे भावों का प्रक्षेपण है। दुश्मन कोई और नहीं, दुश्मनी का भाव हमारे भीतर जग गया है। पराया कोई नहीं–परायेपन की आँख हमारे भीतर खुल गयी है। बस आज यही समझ ले आदमी, तो सारा अलगाव, मारकाट समाप्त हो जाए। आज आध्यात्मिक चिंतन की जरूरत है–भौतिक आँख के स्थान पर दार्शनिक आँख से देखने की जरूरत है।

ईसा मसीह की बात सबको याद है, जब लोग उन्हें फाँसी लगा रहे थे और वे कह रहे थे कि हे प्रभु इन्हें क्षमा करना, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।" और एक हम हैं कि कोई गाली दे तो हम गोली मार देते हैं। सचमुच आदमी अज्ञान में, बेहोशी में अपराध करता है, हत्या करता है, लूटता है, भेद पैदा करता है। होश में, ज्ञान में वह एक चींटी को भी नहीं मार सकता। सबमें उसे एक ही तत्त्व दिखाई देता है कि 'जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है।" आज इसी होश को जगाने की जरूरत है–सपनों को तोड़ने की जरूरत है। कौन जगाएगा? कौन तोड़ेगा?

जगानेवाले, सपना तोड़नेवाले तो बहुत हुए हैं–पर आज मुझे बचपन में याद किया हुआ वह गीत याद आ रहा है, जिसके महान् द्रष्टा और स्रष्टा का नाम मालूम नहीं है। पहले वह गीत ध्यान से पढ लें–

"जब तेरी डोली निकाली जायगी, बिन महूरत के उठाली जायगी।
मरते दम लुकमान भी यह कह गया, हाथ खोले ही सिकंदर भी गया।
वह महूरत वह घड़ी हरगिज न टाली जायगी। जब तेरी डोली....... ।
बुलबुल चमन पै हो न तू इतनी निसार, देख नीचे है शिकारी होशियार।
मारकर गोली गिरा ली जायगी। जब तेरी डोली .... ।

देखा ! कुछ कुलबुलाया भीतर कि नहीं? कुछ हुई खलबली भीतर कि नहीं? यदि नहीं, तो हम अपने सबसे बड़े शत्रु हैं। यदि हाँ, तो हम मानवता के सबसे बड़े मित्र हैं।

जागते हुए सपना देखनेवाले इस आदमी को जगाने के लिए, जिस अज्ञात नाम कवि के हृदय से इस गीत के शीतल फुआरे निकले, उस कवि के प्रति मेरा हृदय श्रद्धा से भर आया है। कैसे मैं अपनी श्रद्धा के अमृत को जन-जन की आत्मा में उडेल दूँ कि इसकी धारा में भेदभावों का सारा कूड़ा-कचरा बहकर किसी अतल सागर में चला जाए! कैसे मैं अपनी इस आँख को सबकी आँख बना दूँ कि जिससे जो असल है, वह दिखाई दे जाए, कि अमृत और जहर का फर्क दिखाई दे जाए, कि आदमी के भीतर छिपा फरिश्ता और शैतान दिखाई

दे जाए या कि जो जीने की कला सिखाती है, वह मौत दिखाई दे जाए !!

संभवत इस कवि को सिकंदर की यही मौत याद आई होगी, जब यह गीत उसके भीतर से फूटा होगा। अपनी मौत के कुछ क्षण पहले सिकंदर ने आदेश दिया कि अर्थी पर रखने के बाद मेरे दोनों हाथ इधर-उधर लटकाकर मेरा जनाजा निकाला जाए। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। मुर्दे के किसी अंग को कफन से बाहर निकालना समाज की रीति नहीं है। अशुभ भी है। लोग कानाफूँसी करने लगे। सिकंदर महान् ने देखा और कहा कि आज मेरी आँख खुल गयी हैं। जब मौत सामने खड़ी हो गयी है, तब जीवन का रहस्य समझ में आया है। मैं दुनिया को बता देना चाहता हूँ कि जो सारी दुनिया को अपनी मुट्ठी में बंद कर लेना चाहता था, आज दुनिया से जाते वक्त उस सिकंदर के दोनों हाथ खाली हैं।

हमने सिकंदरों को मरते देखा है। हमने हिटलरों को आत्महत्या करते देखा है। हमने रावणों को ढहते देखा है। हमने कंसों को धूल में मिलते देखा है। हमने नादिरशाहों को, तैमूरों को और न जाने कितने बहेलियों को उस अदृश्य शिकारी की गोली से गिरते देखा है। पर कहाँ हैं वे आँखें? जिन्होंने इनकी कहानियाँ सुनी हैं–कहाँ हैं वे कान? लगता है हम सबकुछ अपनी मुट्ठियों में बंद करके ले जाएँगे। यह जानकर भी कि "हम हम करि धन धाम सँवारे अंत चले उठि रीते।" और–

चलने में बस बहुत देर नहीं है। बाँस काटे जा रहे हैं। रस्सियाँ बटी जा रही हैं। अर्थी का नाप लिया जा रहा है। उठाने के लिए लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं। रोनेवाले भी बैठे हैं। कहीं ऐसा न हो कि रोनेवाले भी न बचें रोने के लिए। स्वजन भी न बचें उठाने के लिए। कहीं ऐसा न हो कि अपने आप ही अपनी अर्थी ढोनी पड़े हमारी आत्मा को। वह अर्थी जो किसी दिन 'बिना महूरत के उठाली जाएगी।"

●

१९. कहीं बिजली कहीं गुलचीं

'एक' प्रेम और सद्भाव के अभाव से मन मुटाव, मन मुटाव से स्वार्थ, स्वार्थ से नफरत, नफरत से अलगाव, अलगाव की भावना से संघर्ष और रक्तपात–यह कड़ी है जो मनुष्य को खींचकर विनाश की ओर ले जाती है। इस कड़ी को मजबूत करता है जुनून या उन्माद, जिसे आजकल धार्मिक उन्माद कहा जा रहा है। वस्तुत: धार्मिक उन्माद यह नहीं है। यह तो साम्प्रदायिक उन्माद है। धार्मिक उन्माद तो बहुत ऊँची चीज है। अपने आप को, अपनी अस्मिता को, अपनी आत्मा को, परमात्मा को, खोज लेने की जब तक मिल न जाए, तब तक शान्त न होनेवाली अटूट लगन ही धार्मिक उन्माद है और यह उन्माद विध्वंशक नहीं, सर्जक होता है। बाधक नहीं, साधक होता है। यह उन्माद चढ़ा था बुद्ध पर, महावीर पर, नानक पर, कबीर पर–जिन्होंने पर में स्व खोज लिया, भेद में अभेद खोज लिया, नफरत में प्रेम खोज लिया। जाति-धर्म की एकता और समानता स्थापित करने के लिए मर मिटना ही उस धार्मिक उन्माद का लक्ष्य होता है। अपनी कुवृत्तियों से लड़ने और सद्वृत्तियों से जुड़ने की धुन, धार्मिक उन्माद है।

सांप्रदायिक उन्माद अंधा पागलपन है, पशुता है–जो व्यक्ति को व्यक्ति से तोड़ता है, समाज को समाज से तोड़ता है, देश को देश से तोड़ता है और सबसे पहले तो यह अपने आप को ही अपने आप से तोड़ता है। जैसे कोई उन्मादी पशु अपनी नाद (चारा खाने का स्थान) को अपने ही सींगों से ढहा डालता है। यह उन्माद चढा था सिंकदर पर, हिटलर पर, मुसोलिनी पर, तैमूर पर, गौरी पर, गजनवी पर, सद्दाम पर और आज चढ़ रहा है भारत के महान सपूतों पर! क्या मिला और क्या मिल रहा है?

कोई इनसे पूछे या मैं ही पूछता हूँ–बताएँ ईमानदारी से कि रात को अपने बच्चों के साथ कैसी सुख की नींद आती है? कि कितनी तरक्की कर रहे हैं आप? कि कितनी सुरक्षा भरी बेखौफ जिन्दगी जी रहे हैं आप? कि रेलों, बसों, वायुयानों में कितनी आनंदपूर्ण यात्रा कर रहे हैं आप? कि जी रहे हैं आप कि बिना मौत मर रहे हैं आप? फिर भी .... ।

विनाश अब बहुत दूर नहीं है। प्रलय के बादल चारों और से घिरने शुरू हो गये हैं। बिजलियाँ चमकने लगी हैं। बूँदा-बाँदी होने लगी है। छातों के बाजार में आग लग गई है। छतों में बारूदी पलीते सुलग रहे हैं। गलियों में धुआँ है। बाजारों में लपटें हैं। चमन में शैयाद घूम रहे हैं हाथों में खंजर और आँखों में खून लिए –

"कहीं बिजली कहीं गुलचीं कहीं शैयाद का खतरा।
फले फूलेगी गुलशन में ये शाखे आशियाँ क्योंकर?"

बताए तो सही कोई कि ऐसे में क्या होगा? क्या हो गया है इस आदमी को? एक ओर बेरोजगारी, अकाल, महामारी, प्रदूषण और द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ती जनसंख्या है तो दूसरी ओर धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता, कट्टरता, उग्रवाद, अलगाववाद, अश्वत्थामा के घावों की तरह कभी न भरने वाले भेदभाव, कुर्सी के लिए आदमी को खंड-खंड बाँटना, मंदिर-मस्जिदों का विवाद, हथियारों का जखीरा, भय और आतंक है। दो पाटों के बीच आदमी पिस रहा है, लेकिन फिर भी पाट नहीं छोड़ रहा है। कौन किस को जगाए? कौन किसको समझाए?

नाव को डुबानेवाला कोई और हो तो रोका भी जाए, जब खुद माँझी ही नाव को

डुबाने लगे तो कोई क्या करे? फले-फूले चमन को कोई और उजाड़ रहा हो तो रोका भी जाए, जब खुद माली ही उजाड़ने लगे तो कोई क्या करे? हमारे घर को कोई और फोड़ रहा हो तो रोका भी जाए, जब हम खुद ही कुदाल लेकर फैले हों तो कोई क्या करे?

रोक न हो पाने का अर्थ कहीं यह तो नहीं कि नाव ही गल गयी हो या चमन बूढ़ा हो गया हो, या घर जरा जीर्ण हो गया हो, या पुराने के भीतर से कुछ नया कुलबुला रहा हो। और एक यह भी तो सत्यार्थ होता है कि कालिख उगलती, निरंतर बढ़ती दीपक की लौ कहती है कि मैं बुझने वाली हूँ–मवाद से भरा कसमसाता फोड़ा कहता है कि मैं अब फूटने वाला हूँ!! देख लीजिए और सोच लीजिए–नजर अपनी-अपनी, डगर अपनी-अपनी।



२०. राजनीति और धर्म

राज्य करने जैसे पवित्र और लोक हितकारी कर्म में, कहीं सत्ता के दुरुपयोग या मनमानी करने की भावना न पैदा हो जाए, इसीलिए संभवत: इस 'राज्य' शब्द के साथ 'नीति' को जोड़कर 'राजनीति' शब्द बनाया गया होगा, जिसका भीतरी अर्थ रहा होगा 'नीति-धर्म' के साथ राज्य की व्यवस्था करना और जिस व्यक्ति में नीति-धर्म के आधार पर व्यवस्था को सँभाल लेने के सारे लक्षण पाये गये होंगे, उसी को राज्य का स्वामी बनाने का निर्णय लिया गया होगा—लोक और इतिहास के अतीत में देखने से कुछ ऐसा ही निष्कर्ष समझ में आता है। इस निष्कर्ष का प्रमाण प्रस्तुत करती है विक्रमादित्य के सिंहासन की कहानी कि मिट्टी में दबे उस सिंहासन पर जब गड़रिये का लड़का बैठ जाता था तो उसके मुँह से नीति-न्याय की विचित्र बातें निकलती थीं। अत: स्पष्ट हुआ कि राज्य व्यवस्था सँभालनेवाले व्यक्ति का धर्मशील होना आवश्यक है—न अमीर, न गरीब; न ऊँच, न नीच—क्योंकि धर्म की आँख में भेदभाव का काजल नहीं लगता।

अब इस धर्म की व्याख्या बड़ी विवादास्पद हो गयी है, जिसके कारण या तो आज धर्म के मर्म को नकार कर या इसे अधर्म मान कर और राजनीति से अलग फेंककर हाथ-आयी सत्ता से चिपके रहनेवाली बात मन में आयी है अथवा धर्म का धोखा देकर किसी तरह सत्ता पर कब्जा जमाने की अन्दरूनी या खुली साजिशों ने जोर पकड़ा है। नीयत दोनों की संदिग्ध है क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है—सत्ता को हथियाना और किसी पर कब्जा तो अधर्म ही किया करता है—धर्म कभी कब्जा नहीं करता। धर्म को तो बड़ी साधना के बाद भीतर और बाहर धारण किया जाता है और जिसे धारण करते ही सारी लिप्साएँ छूटकर नीचे सरक पड़ती हैं।

राजनीति में जो 'नीति' शब्द है यह भी दोमुँहा है, भ्रामक है। यह प्रबन्धकीय कायदा-कानून का भी पर्याय है और सदाचरण, शील या धर्म का भी। जहाँ कायदे-कानून की बात आती है, वहाँ दया, धर्म, ममत्व और परत्व पीछे हटा दिये जाते हैं और जहाँ दया-धर्म की बात आती है, वहाँ कायदे-कानून की अवहेलना हो जाती है ; लेकिन साफ-साफ फैसला अन्तिम परिणाम के बाद ही होता है। जब व्यवस्था सँभल नहीं पाती, जब मनुष्य की सारी चेष्टाएँ, क्रियाएँ और तिकड़में असफल हो जाती हैं तो सब कुछ वह ईश्वर या धर्म पर लाकर छोड़ देता है। बस धर्म की असली परिभाषा यहीं से पैदा होती है। अत: धर्म एक ऐसी अदृश्य विराट् सत्ता का नाम है, जिसके हाथ में दुनिया की सारी तथाकथित सत्ताओं की लगाम रहती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत एक धर्मप्रधान देश है। यहाँ के समाज और संस्कृति, साहित्य और दर्शन, संगीत और कला, इतिहास और वाणिज्य, राज्य और प्रजा आदि सभी धार्मिक चेतना से अनुप्राणित रहे हैं। बहुत पुरानी कहावत भी प्रचलित है कि यह धरती धर्म की धुरी पर टिकी है। यहाँ हर अवतार अधर्म के विनाश और धर्म की संस्थापना के लिए ही हुआ; लेकिन आज ऐसा लगता है कि सब कुछ उल्टा होनेवाला है। नैतिक और सांस्कृतिक अध: पतन की ओर जाते हुए भारत के, आज हर क्षेत्र में, धार्मिक चेतना के उन्नयन की आवश्यकता है, न कि धर्म के बहिष्कार की। कहते हैं कि 'यथा राजा तथा प्रजा' और जब राजदरबार से ही धर्म को निर्वासित कर दिया जाएगा तो प्रजा में कहाँ उसे शरण मिल पाएगी? राजा धर्महीन तो प्रजा भी धर्महीन। महाभारतकार भी घोषणा कर गये कि 'जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है।' लेकिन क्या हो गया है कि लोग अपनी पराजय को कानून के लम्बे

हाथों से गिरफ्तार कराकर अपने दरबार में बुला रहे हैं। जबकि अच्छी तरह जान बैठे हैं कि दुर्योधन की धर्मरहित कुटिल राजनीति धर्म की वेदी पर ही आकर दफन हुई थी।

अभी तो परतंत्र भारत के पेड़ भी नहीं उखड़ पाये हैं। परतंत्रता से मुक्ति दिलाने में गांधी जी की प्रमुख भूमिका थी और गांधी जी की सारी राजनीति गीता और रामायण जैसे धर्मग्रंथों से निकल कर उनकी आत्मा के ताव में गल पिघलकर आयी थी, जिसका मूल मंत्र था हे राम!' गांधी जी के स्वतंत्र भारत की कल्पना थी 'रामराज्य' की स्थापना! क्या गांधीजी की कल्पना का रामराज्य, रावण राज्य बननेवाला है! क्योंकि रावण ने ही अपनी राजनीति से धर्म को निकाल दिया था।

इतिहास साक्षी है कि भारत के आजाद होने से पहले यहाँ अंग्रेजों ने राजनीति के घोड़े पर बैठकर ईसाई धर्म और भाषा-संस्कृति को फैलाया और अंग्रेजों से पहले मुसलमानों ने यहाँ राजनीति के हथौड़े से इस्लाम की कील गाढ़ी। कोई भी राजनीति धर्म की बैसाखी लगाये बिना खड़ी नहीं हो पायी। क्योंकि राज्य का शासन शरीर पर होता है और धर्म का शासन हृदय पर ; जबकि सच्चा शासन तो वही है, जो तन और मन दोनों को एकसाथ अनुशासित करे। धर्मरहित राजनीति तो ऐसी स्वेच्छाचारिणी स्त्री के समान है, जिससे कभी भी किसी भी प्रकार का व्यभिचार होना असंभव नहीं। अत: इसे काबू में लाने के लिए धर्म के साथ उसका विवाह करना ही पड़ेगा। अन्यथा परिणाम बहुत भयंकर होगा। जैसे गन्दगी में ही सफाई की जरूरत है, वैसे ही राजनीति में ही धर्म के हस्तक्षेप की आवश्यकता है, नहीं तो इस कहावत के प्रश्न का कहीं उत्तर नहीं मिल पाएगा कि "राजा ही चोरी करै, तो न्याय कौन पै जाइ?" धर्म मनुष्यता की गंदगी के लिए झाडू है और आश्चर्य है कि घर के रखवाले झाडू को कूड़ा समझ घरों से बाहर फैंक रहे हैं।

राजनीति में हो या किसी और क्षेत्र में, मनुष्य से धर्म को अलग किया ही नहीं जा सकता। राजनीति यदि शरीर है तो धर्म इस शरीर को सार्थक बनानेवाला आत्मा। और शरीर से यदि आत्मा को अलग कर दिया जाए तो शरीर किस काम का ? राजनीति यदि उफनती नदी है तो धर्म उस नदी के मजबूत किनारे हैं और यदि किनारों को ढहा दिया जाए तो नदी क्या कमाल दिखाएगी? इस शताब्दी में, इस नदी के किनारे बाँधे थे विवेकानन्द ने, गांधी जी ने और डा० राधाकृष्णन ने। हम उन किनारों का रखरखाव कर रहे हैं ?? राजनीति यदि व्यवस्था है तो धर्म इस व्यवस्था के लिए अदृश्य अंकुश है और व्यवस्था पर कोई अंकुश न हो तो व्यवस्था, अव्यवस्था बन जाएगी और वह, जिनके हाथों में होगी, वे लोग क्रूर, नृशंस, स्वेच्छाचारी और तानाशाह बन जाएँगे। दुनिया का इतिहास गवाह है कि जिन्होंने धर्म को ताख पर रख दिया, वे कौन थे और उन्होंने क्या किया? ऐसे लोगों की एक लम्बी जमात है। जिनकी करनी और भरनी को कौन नहीं जानता? लगता है कि इस देश में फिर से इन लोगों के आगमन का समय आ गया है यद्यपि आज भी छिपे रूप में इनकी कमी नहीं है। पता नहीं इस देश के कर्णधार आखिर क्या चाहते हैं? भले ही कोई न माने, लेकिन न्यायालयों में अपराधियों से गीता कुरान पर हाथ रखकर सौगंध खिलाने का मतलब क्या है? न्याय की देवी का तराजू हाथ में लिए चित्र रखने का अर्थ क्या है? 'अहिंसा परमो धर्म:' और 'सत्यमेव जयते' आदि जो वाक्य लिखे रहते हैं तथा गांधी, विवेकानन्द की तस्वीरें जो कक्षों, कार्यालयों और संसद भवनों में लगी रहती हैं, इन सबका मतलब क्या है? क्या ये सब धर्म के स्मारक नहीं हैं? यदि नहीं हैं तो फिर इनकी क्या जरूरत है? इनको हटवा देना

चाहिए।

मानव और दानव में बहुत अधिक बुनियादी फर्क नहीं है। जिसे धर्म का भय है, उसे मानव कहते हैं और जिसे धर्म का भय नहीं है, उसे दानव! जिन्दगी की नहर के दो किनारे हैं–एक किनारा राजनीति का है और दूसरा धर्म का। दोनों किनारों के कारण मनुष्य रुका हुआ है, नहीं तो नागासाकी और हिरोशिमा बनने में चुटकी बजाने की देर लगेगी।

राजनीति और धर्म दोनों एक-दूसरे के अंकुश हैं। ऐसी बात नहीं है कि यदि राजनीति में से धर्म निकल जाए तो यह राजनीति ही नृशंसता, क्रूरता और तानाशाही बन जाएगी, वरन् धर्म के ऊपर से भी यदि राजनीति का अंकुश हट गया तो धर्म भी ढोंग, पाखंड़, छल, कपट, संप्रदाय अर्थात् अधर्म बन जाएगा। जैसा कि आज तक होता आया है। अत: न तो यहाँ प्रत्यक्ष गिद्धों की कमी है और न रामनामी दुपट्टों के पीछे छिपे बगला भगतों की! दोनों की निगाह, कुर्सी रूपी मांस-मछली पर लगी है। नीयत किसी की भी साफ दिखाई नहीं देती। जो राजनीति से धर्म को अलग करना चाहते हैं, वे कुर्सियों से चिपके हुए हैं और उन्हें डर ही नहीं, विश्वास है कि दूसरे लोग धर्म के नाम पर, जनता को अपनी ओर मोड़कर, कुर्सियों की ओर बढते आ रहे हैं अत: इनके धर्म के पुल को ढहाकर दिल्ली में घुसने से पहले ही इन्हें 'जमुना' में डुबा दिया जाए। और धर्म का ढिंढोरा पीटनेवाले ये दूसरे भी कम नहीं हैं। ये भी धर्म का चुग्गा फैंककर और भोली-भाली जनता को अपने जाल में बाँधकर, एक मजबूत फंदा हाथ में लिये, उन दिल्लीवालों की गर्दनों को पकड़ जमुना में खींचने की कोशिश कर रहे हैं। कहा जाता है कि 'तिलिनि से क्या धोविनि घाटि, उसके मोंगरा उसके लाठि।' कम कोई नहीं है। न सच्चा धर्म इनके ध्यान में है, न सच्ची राजनीति उनके दिमाग में।

यदि राजनीति से धर्म को अलग कर दिया जाए तो परिणाम होगा, गुण्डागर्दी, मनमानी, शोषण, उत्पीड़न और सूत्र रूप में कहें तो चुनिया की ढपली पुनिया बजाएगी ; काम किसी का और नाम किसी का होगा; बोयेगा कोई तथा काटेगा कोई और माल मारेगा घासी दण्ड़ भरेगा हुलासी। इसके विपरीत यदि धर्म पर से राजनीति का अंकुश हट गया तो इस देश में साम्प्रदायिकता, जातिभेद, वर्गभेद,क्षेत्रवाद, प्रान्तीयता और पूरब-पश्चिम वाद की भावनाएँ फैलकर और भी खतरा उत्पन्न कर देंगी, जिससे घृणा, द्वेष, आतंकवाद, उग्रवाद, अलगाववाद कभी समाप्त नहीं हो पाएँगे। फिर तो धर्म और राजनीति दोनों को जेब में लिये फिरें, लेकिन कुछ होगा नहीं, जैसे अब कुछ नहीं हो पा रहा है। आखिर इन राजनेताओं को हो क्या गया है जो आये दिन बंदरों के हाथ में डंडा देकर कोई न कोई भेली फैंक देते हैं।

हाँ जिस तथाकथित धर्म को राजनीति से अलग करने की बात चल रही है, उस धर्म से इन लोगों का तात्पर्य यदि साम्प्रदायिकता, वर्गभेद, जातिभेद आदि विघटनकारी तत्त्वों से है तो यह विचार प्रसंशनीय और आचरणीय है ; क्योंकि ये तत्त्व छल से आज धर्म को धक्का देकर उसके आसन पर चढ़ बैठे हैं। अत: इन्हें धर्म का नाम न दिया जाए। इन्हीं छद्म तत्त्वों ने धर्म को बदनाम किया है और समाज में हिन्दू, मुस्लिम, ब्राह्मण, ठाकुर, ऊँच-नीच अनेक लाबियों को तैयार कर देश की एकता को खंडित किया है। फिर तो निश्चित ही यह धर्म नहीं, अधर्म है और इस अधर्म को उखाड़ने के लिए देश की मानसिकता को बदलना पड़ेगा; धर्म और साम्प्रदायिकता की भेदक रेखाओं को साफ-साफ दिखाना होगा–अन्यथा एक-दूसरे की नीति को अनीति बताकर, जनता को बरगलाकर लोग अपनी राज्य लिप्सा, धन लिप्सा को संतुष्ट करने के लिए उत्पात करते रहेंगे।

२१. क्रोध

अहंकार की तरह क्रोध भी मेरा चिर सहचर है। दोनों बहानों का मौका ढूँढ़ते हैं। जरा सी पैछर (पदचाप) हुई कि अहंकार का विषधर फन फैलाकर खड़ा हो जाता है और जरा सी अटक-खटक हुई कि आग ही तरह क्रोध सुलगकर दहकने लगता है। अंधे अहंकार (अभिमान) के वृक्ष पर क्रोध के फल लगते हैं। फल, वृक्ष का ही बदला हुआ रूप है। रस-रक्त वही, लेकिन रंग-आकार और स्वाद बदले हुए। क्रोध, घूरता, रूरता और तमतमाता हुआ अहंकार है और अहंकार, दाँती भींचकर मिसिमिसाता हुआ क्रोध है। अथवा सोया हुआ ठंडा अहंकार, प्रतिकूल परिस्थितियों की रगड़ से गर्म होकर, क्रोध बन जाता है। कौन सी हैं प्रतिकूल परिस्थितियाँ, जो क्रोध को निकालती हैं?

जरा अपनी कमियों की ओर किसी को उँगली तो उठाने दीजिए; थोड़ा-सा अपना अपमान या उपेक्षा या तिरस्कार तो होने दीजिए; अपनी मनमानी पर तनिक रोक तो लगने दीजिए; अपनी इच्छा पूर्ति में जरा बाधा तो आने दीजिए; अपने लोभ-लाभ में थोड़ी रुकावट तो पड़ने दीजिए-तब बदले के लिए, पूर्ति के लिए अथवा प्राप्ति के लिए, प्रतिक्रियार्थ ढकेलता हुआ, मन का बौखलाया हुआ भीषण संतप्त भाव निकलंकर आएगा-और यही क्रोध है। क्रोध अर्थात् होश रहित विध्वंशक जोश! क्रोध,-ध्वंशात्मक अंधी प्रतिकृति! क्रोध,-दुहरी, तिहरी हिंसा-प्रतिहिंसा! क्रोध,-मन की धरती पर आया हुआ भूकम्प! क्रोध,-निर्ममता, क्रूरता का झहराया हुआ पुतला! क्रोध,-खूनी आतंक फेंकती हुई आँखें! क्रोध,-अणुबम से विस्फोटक गोले दागती हुई जीभ! क्रोध,-मंगल ग्रह ही तरह अमंगलकारी तँमियाया चेहरा! क्रोध,-द्विजिह्वी (साँप) की जीभ से फड़कते होंठ! क्रोध,-'मिसाइली' हाथ! क्रोध,-काल-चक्र के पहियों की तरह सारी सृष्टि को रौंदते हुए पैर !!

क्रोध को पाप का कारण बताया गया है। सच है यह बात। जो पतन को प्राप्त कराए, वह पाप है। सारे पतन कारक तत्त्व क्रोध की काया में समाविष्ट रहते हैं। इसमें जो बौखलाहट, तपन, फुकन और गर्मी है, वह अपमान की ज्वाला की झर है और मान-अपमान की भावना आदमी का पतन करती है। क्रोध में जो आक्रामक वृत्ति है, वह प्रतिशोध के भाव का ढक्का है। क्रोध में जो चिरमिराहट, मिरिमिराहट और झकझकाहट है, वह ईर्ष्या, द्वेष और जलन की ऐंठन है। एकान्त में भी क्रोध की बार-बार जो आवृत्ति है, वह पूर्वस्मृतियों की आँधियों के झोंके हैं। सबल के सामने से भीगी बिल्ली बनकर लौटा हुआ क्रोध जब अपनी भड़ास निकालने के लिए निर्दोषों को पीटता है, गरियाता है और चीजों की उठापटक करता है, यह सब उसकी कायरता, हीनता और अन्धापन है। ये सारे तत्त्व पतन कारक हैं।

क्रोध की दशा में, क्रोध के अलावा, आदमी को कुछ और अच्छा नहीं लगता। यदि क्रोध में आदमी खाना खाता है तो वह खाना नहीं खाता,-अपने आलम्बन को कच्चा चबाता है। क्रोध में जब वह पानी पीता है, तो पानी नहीं पीता,-शत्रु का खून पीता है। क्रोध में आदमी जब अपनी उँगलियाँ मरोड़ता है तो शत्रु की हड्डियाँ तोड़ रहा होता है। क्रोध आते समय तो अन्धे आदमी को 'मैं-मेरा' ही सूझता है लेकिन क्रोध के जाते ही वह 'मैं-मरा' कहकर छाती पीटने लगता है।

देखा जाता है कि कमजोर आदमी को क्रोध अधिक आता है और जरा से इशारे पर

आता है। शक्तिशाली को क्रोध कम आता है और देर से आता है। क्या कारण है? असल में, शक्तिशाली व्यक्ति, जो जरा विवेकी होता है, उसकी शारीरिक ऊर्जा इतनी प्रबल और सघन होती है कि ठसाठस भरी होने के कारण वह मनोवेगों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के द्वार-दरवाजों को सँकरा कर देती है। फिर प्राकृतिक नियम है कि कम या कमजोर ऊर्जा, अधिक या प्रबल ऊर्जा में विलीन हो जाती है। तो शक्तिशाली व्यक्ति के क्रोध की क्षीण ऊर्जा को उसके शरीर की प्रबल ऊर्जा अपने आप में विलीन या अवशोषित कर लेती है फलतः सँकरे द्वारों से वह अवरोध पूर्वक धीरे-धीरे रिसती है। जबकि कमजोर व्यक्ति की कोशिकाएँ इतनी ढीली होती हैं कि क्रोध की दौड़ती ऊर्जा को वे रोक नहीं पातीं; उसकी शारीरिक शक्ति क्रोध की शक्ति के मुकाबले हल्की होने के कारण उसी में विलीन हो जाती है फलतः वह (कमजोर व्यक्ति) फल्ल से क्रोध को फैंक देता है। ठीक वैसे ही, जैसे–जिस फाउन्टेन पैन में स्याही कम होती है, वह ज्यादा स्याही फैंकता है और जिसमें पूरी भरी होती है, वह रगड़ने-झाड़ने पर भी मुश्किल से चलता है।

क्रोध का स्वभाव गर्म है। इसकी तासीर भी गर्म है। क्रोध की चेष्टा आक्रामक और इसकी परिणति अपशब्द, मारपीट और तोड़फोड़ है। क्रोध का सत्य हिंसा है। इसकी नीयत वैर है। शान्ति और प्रेम से क्रोध की जन्मजात शत्रुता है। प्रेम की दूसरी पर्त वैर और तीसरी पर्त क्रोध है। अर्थात् सांसारिक प्रेम ज्यों-ज्यों पुराना होता जाता है, त्यों-त्यों क्रोध बनता जाता है। थल-कमल के फूल प्रातः खिलते समय सफेद होते हैं और जैसे-जैसे दिन ढलता जाता है, वे लाल होते जाते हैं और फिर रात को करछोंहे होकर गिर जाते हैं। ऐसे ही स्वार्थमय प्रेम लाल-पीला होकर क्रोध बन जाता है और निरसन के बाद पश्चात्ताप के अँधेरे में गल जाता है।

क्रोध का रंग तो लाल है, लेकिन इसकी धमनियों में काला खून दौड़ता है और इन दो रंगों का मेल आतंक उगलता है; भय फैंकता है; जुगुप्सा पैदा करता है। फलतः क्रोधी के प्रति सबके मन में घृणा, उपेक्षा और तिरस्कार हो जाता है। वह किसी की श्रद्धा प्राप्त नहीं कर सकता; किसी के सम्मान का पात्र नहीं हो सकता; कोई उसे प्रेम नहीं कर सकता; उसमें किसी की आस्था नहीं होती।

किन्तु, क्रोध सर्वथा मारक, जालक, विनाशक, अपकारक एवं निन्दनीय ही नहीं होता, अपितु समय, परिस्थिति एवं लक्ष्य के अनुसार वह रक्षक, उपकारक, उद्धारक, शान्ति सुरक्षा का स्थापक एवं प्रशंसनीय भी होता है। इस प्रकार का क्रोध अपनी क्षुद्र कामना एवं लोभ में बाधा आने से पैदा नहीं होता, अपितु स्वार्थ के संकीर्ण घेरे को तोड़कर समाज, लोक एवं सज्जनों तथा दीन-दुखियों पर होनेवाले अन्याय और अत्याचार की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न होता है। रक्षण-भाव से युक्त यह क्रोध का प्रशस्त रूप है, जिसकी धर्म आज्ञा देता है; समाज स्वीकृति प्रदान करता है, क्योंकि इसका लक्ष्य है, 'परित्राणाय साधूनाम्, विनाशाय च दुष्कृताम्.......।' यह क्रोध साहस, उत्साह, शौर्य, वीर्य, तेज, ओज, पराक्रम, बुद्धियुक्त पररक्षण की अप्रतिहत शक्ति का ज्वलन्त रूप होता है। अवतार और देशभक्त-शहीद ही इसके उदाहरण हैं। कभी 'मन्यु' शब्द इसी सन्दर्भ में प्रयुक्त होता था जैसे महाभारत में अर्जुन-पुत्र 'अभिमन्यु'।

क्रोध का एक अन्य पर्याय 'अमर्ष' भी है। अमर्ष अर्थात् अपमान, हानि, तिरस्कार, उपेक्षा आदि से मन की क्षुब्धता। अमर्ष बाहर तो तोड़-फोड़ के लिए निष्क्रिय सा दिखाई पड़ता है, लेकिन भीतर आत्महन्ता होता है। तब उसके भीतर अमर्ष पैदा होता है, जिसमें

वह खीजता है, चिढ़ता है, कुढ़ता है, भीतर से भभकी उठती है कि अपना माथा भी ठोक लेता है। अमर्ष में बहुत कुछ यह कहावत लागू होती है कि 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोंचे।' 'आक्रोश' अमर्ष का प्रतिबिम्ब है। इन दोनों के आश्रयों में हाव-भाव तो क्रोध के झलक जाते हैं, लेकिन वे शरीर की विध्वंशक क्रियाओं में परिगत नहीं हो पाते, अपितु वाक्युद्ध तक ही सीमित रह जाते हैं।

क्रोध का कोई रूप हो, वह तब तक निर्मूल नहीं हो सकता, जब तक कि मन में काम (कामना) और लोभ जमे हुए हों। इन्हीं दोनों में रुकावट आने से क्रोध पैदा होता है; इसीलिए कवियों और चिन्तकों ने, मनोविकारों की श्रेणी में क्रोध अर्थात् चाह → इच्छा → महत्त्वाकांक्षा → वासना → तृष्णा आदि की कड़ियों से बना हुआ अन्तिम मजबूत कुन्दा है और लोभ अर्थात् आकर्षण → ललक → सान्निध्य की आकांक्षा → प्राप्ति → और प्राप्त की पकड़, तारकोल की सी इनकी बूँदों के समूह पर रखा हुआ ऊर्ध्व-मुख कटोरा है। एक छोड़ता नहीं, दूसरा भरता नहीं।

असंतोष, कामना का बीज है। कामना और.......और की चाह है, चाह में अवरोध है, अवरोध में संघर्ष है, संघर्ष में तनाव है और तनाव में से ही क्रोध निकल कर आता है। कामना बाहर देखती है और दूर देखती है। वर्तमान और प्राप्त, उसके लिए अर्थहीन होते हैं। कामना भविष्य निर्मित करती है। भविष्य अपूरणीय वासनाओं का अंधा कुआँ है। कहने का मतलब यह कि कामना मन में पैदा हुई कमी या अभाव की सूचना है। ऐसी कमी कि मन पीकर भी प्यासा रहे, सब खाकर भी भूखा रहे, सब पाकर भी भिखारी बना रहे। चारों ओर हाथ-पाँव मारे और जब कोई रुकावट आ जाए तो परिणामत:–क्रोध! कामना ऐसी भी कमी है कि मुझमें कोई कमी नहीं और यदि किसी ने हमारी कमी की ओर इशारा कर दिया–बस नतीजा क्रोध!! कामना का अर्थ है–ऐसा असंतोष कि जो भी मिला है, वह सब बेकार है, जो नहीं मिला है, अब वही चाहिए और इसकी जड़ में होड़ है फिर दौड़ है और दौड़ में रोड़े आना स्वाभाविक है फिर जरा सी टक्कर फलत:–क्रोध!! कामना है, लाभ की ही आशा कि अमुक चीज में हमें इतना लाभ होना चाहिए और लाभ हो भी गया, लेकिन उतना नहीं हुआ, जितना होना चाहिए था फलत:–खीज और खीज से क्रोध!!

अत: जो पास नहीं है, उसकी माँग, कामना (काम) है और जो पास है, उसमें आसक्ति और मजबूत पकड़, लोभ है। कमी कामना को और आसक्ति लोभ को जगाती है। कामना के पंख भविष्य के शून्याकाश में उड़ान भरते हैं तो लोभ के पाँव अतीत की दलदल में फँसे रहते हैं। कामना को कभी डकार नहीं आती और लोभ की कभी लार बन्द नहीं होती। अतीत में जो भी कमाया है, अर्जन किया है, लोभ उस पर छाती दिये पड़ा रहता है और जब कोई उसे माँगता है, लेता है या छीनता है तो क्रोध आता है। जिसको क्रोध न आये और चीजों को पकड़े ही रहे, वह कंजूस या कृपण कहा जाता है। यद्यपि कृपणता भी जब टूटती है तो उसमें से भी क्रोध की चड़चड़ाहट निकलती है। कामना के फैलते विष को संतोष का बन्ध रोक देता है और लोभ की चुपक को अपरिग्रह या दान ढीली कर देता है।

संतोष जबरदस्ती मन मारकर बैठ जाना नहीं है। अर्थात् अक्षमता या विवशता के कारण किसी चीज की अप्राप्ति से, उसके प्रति उपेक्षा, निराशा या निन्दा के भाव से व्यक्त की गयी विरक्ति या अनिच्छा संतोष नहीं है (जैसे लोमड़ी को अंगूर नहीं मिले तो खट्टे हैं।) अपितु जो नहीं है पास उसकी जरूरत नहीं, बस जो है, वह काफी है, यह संतोष की आन्तरिक

आवाज है। यही आवाज जब पूरी इन्द्रियों में से निकलने लगे तो कामना का जाल अपने आप सिमट जाता है और जहाँ कामना नहीं, वहाँ कुछ मिले, न मिले, सारी दुनिया लूट ले जाए, अपने राम को क्या लेना-देना.......तो क्रोध जी कष्ट क्यों करेंगे आने का?

लोभ की गठरी दान का छेद हो जाने से ढीली हो जाती है। लोभ है, पकड़ और दान है, देने का मन बन जाना। दान के लिए आवश्यक नहीं कि वस्तुओं का अथवा धन का ही दान किया जाए! दो मीठे बोल बोल देने से शत्रु को भी मित्र बनाया जा सकता है। किसी दुखिया को थोड़ी सी सहानुभूति दे देने से उसे आशा की किरण मिल सकती है। राह में गिरे हुए को थोड़ा सहारा दे देने से उसे अपनी मंजिल मिल सकती है। किसी निरपराध पर लगाये गये इल्जाम के विरुद्ध बोल देने से न्याय को बल मिल सकता है। निरक्षरों को अक्षर ज्ञान दे देने से उन्हें जीवन का प्रकाश मिल सकता है। मुरझाये हुए पौधों में थोड़ा सा पानी दे देने से या उनको कटने से बचा देने पर प्रदूषण को रोका जा सकता है। जैसे बालू के ढेर के नीचे से जरा सी बालू हटायी जाए तो ऊपर तक से वह ढेर सरकने लगता है फिर उसमें और संग्रह भी किया जाए तब भी उसका सरकना बन्द नहीं होता। ऐसे ही जब देने का मन बन जाता है तो केवल संग्रह और प्राप्ति की चाह, ढीली हो जाती हैं। चाह ढीली हो जाती है तो होड़ की दौड़ की गति मन्द पड़ जाती है, गति मन्द होती है तो ठोकरखाने या टकराने का प्रश्न नहीं और जहाँ कोई टकराहट-रुकावट नहीं, वहाँ क्रोध जी क्यों कष्ट करेंगे आने का?

और आये भी क्रोध........आना चाहिए, क्योंकि पौरुष का, शक्ति का, स्वाभिमान का निकास द्वार है यह। अपना गला रेते जाने पर, अपना स्वत्व छीने जाने पर, अपने सद्गुणों को मेटे जाने पर भी यदि क्रोध न आये तो आदमी को न जीता-जागता माना जा सकता है और न उसमें सच्चे-मानवीय मूल्य, जैसे दया, क्षमा, कृपा, करुणा, अहिंसा, परोपकार, प्रेम, प्रायश्चित्त आदि ही जग सकते हैं। कलिंग के युद्ध का क्रोध ही अशोक को बुद्ध की करुणा में ले गया–अशोक महान् बन गया। हर प्रकाश अँधेरे की गर्भ से पैदा हुआ है। हर एक सत् असत् की कोख से जन्मा है। यदि अँधेरा और असत् आने पर आँखें खुल जाएँ तो बड़ी दिव्य संपदा दिखायी देती है।

पश्चात्ताप क्रोध की छाया है। यह क्रोध के साथ रहती है,–कभी पीछे, कभी आगे। परन्तु सत्य यह है कि जिस गलत काम पर हम पछताये हैं और कसमें खायी हैं कि इस काम को फिर कभी नहीं करेंगे,–कुछ समय बाद हमने फिर–फिर वही काम किया है......फिर पछताये हैं और फिर वही किया है। काम, क्रोध, लोभ आदि में हजार बार हमने गोते खाये हैं और बाहर आकर लाख बार हम पछताये हैं, लेकिन कालान्तर में आँखें बन्द कर, हम फिर उन्हीं गड्ढ़ों में सरके हैं।

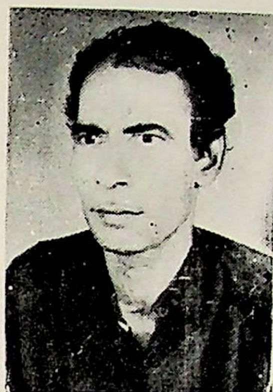
जीवन में लगभग हर भाव में धोखा हो सकता है, ढोंग हो सकता है, कृत्रिमता हो सकती है, नाटकीयता हो सकती है; लेकिन नाटक को छोड़कर क्रोध का नाटकीय होना मुश्किल है। हाँ, यह हो सकता है कि क्रोधी में जब कायरता और कमीनापन आ जाए तो वह छिपकर वार कर सकता है साजिश और षड्यन्त्रों का सहारा लेकर, दूसरों के कन्धों पर रखकर हथियार चला सकता है। लेकिन जहाँ तक व्यक्ति में उभरे शुद्ध क्रोध का सवाल है, वह अपने प्रकृत रूप में मन, वचन और कर्म से क्रोध ही रहता है। अर्थात् क्रोध के ऊपर मुलम्मा नहीं चढ़ पाता कि भीतर तो क्रोध हो और बाहर पुचकारे; भीतर क्रोध हो और बाहर प्रेम के गीत

गाये; भीतर क्रोध हो बाहर महात्मा गांधी बने। नहीं। क्रोध में मिलावट नहीं चल पाती। क्रोध निर्विकार विकार है। इसमें मृत्यु का भय नहीं; हानि-लाभ का गम नहीं; अपने-पराये का मोह नहीं; स्वार्थ-परमार्थ का लोभ नहीं। तोड़-फोड़ मार-पीट न करे-तब भी आँखों से, भृकुटियों से, चेष्टाओं से, हाव-भावों से क्रोध बता ही देता है कि यह मैं ही हूँ।

क्रोध चौतरफा विध्वंशक है। इसे रोक लिया जाए तो यह भीतर कुंठा, तनाव, सिरदर्द, रक्तचाप और पागलपन आदि पैदा कर आत्म-हत्या तक करा सकता है और रोका न जाए तो यह बाहर के संसार का विनाश कर सकता है। फिर भी, क्रोध का विरेचन आवश्यक है, लेकिन किसी प्राणी पर नहीं, अपितु एकान्त में-चीखकर, चिल्लाकर, गालियाँ बककर, पत्थर फैंककर, दीवारों में मुक्के मारकर। यदि ऐसा करते हुए किसी ने देख लिया तो क्रोध लज्जा और ग्लानि में बदल जाता है और किसी ने न देखा तो विरेचन से कुंठाओं का बहाव हो जाता है; ईर्ष्या-द्वेषों का गलाव हो जाता है और क्रोध का छटाव हो जाता है।

●





डा० दरवेश सिंह

जन्म-तिथि—६-६-१६४४ (हाईस्कूल प्रमाण-पत्र में)
फरवरी १६४८ (वास्तविक)

जन्म-स्थान—मुकुटपुर, तहसील खैर, जिला–अलीगढ़

पिता—श्री ठा० डम्बर सिंह

माता—स्व० श्रीमती लौंगश्री देवी

शिक्षा—एम०ए० (हिन्दी) १६६६ ई० में अ० मु० विश्वविद्यालय, अलीगढ़ में, प्रथम स्थान, स्वर्ण पदक प्राप्त
पी-एच०डी० (१६७३ ई०)

साहित्यिक उपलब्धि—मूलतः निबंध-लेखक। अब तक लगभग १७० निबंध (विचारात्मक, मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिव्यंजक एवं ललित) लिख चुके हैं, जिनमें से लगभग ६० निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। निबंधों के अतिरिक्त कविताएँ और समीक्षाएँ भी लिखी हैं और पत्र-पत्रिकाओं में छपी हैं। दर्शन, अध्यात्म, मनोविज्ञान और भाषा-विज्ञान में विशेष अभिरुचि।

निबंध-संकलन—१. भाव-चिन्तन (उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से पुरस्कृत।
२. विजन वन की सूर्यमुखी

संप्रति—रीडर, हिन्दी विभाग, जवाहरलाल नेहरू स्मारक पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, महाराजगंज (उ० प्र०)

वर्तमान पता—८/१०२, सिविल लाइन्स, महाराजगंज, जिला–महाराजगंज (उ० प्र०)–२७३३०३



नवेन्दु सदन, आदर्श कालोनी
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)—२५१००१